से काफी सेवा की थी। इस प्रसंग पर आपने स्वयं आर्थिक सहायता देकर तथा दूसरों से भी दिलवा कर ज्ञानप्रचार का जो लाभ लिया था, उसके लिए हमारी संस्था चिरकाल तक आभारी रहेगी।

२०१)०० श्रीमान् अमोलकचंदजी मोतीलालजी पगारिया धरणगाँव (पूर्व खा०)

आप अपने गाँव के एक प्रमुख सुश्रावक हैं। सं. २०१३ में जब पं० मुनि श्री का ठाणे ५ से चौमासा हुआ था, उस समय महात्माओं की सेवा तथा दर्शनार्थियों के आतिथ्य का आपने दिल खोल कर लाभ लिया था। आपकी धार्मिक श्रद्धा काफी दृढ़ है।

२०१)०० स्व० श्रीमान् गुलाबचंदजी शंकरलालजी बूरड़—सटाना (नासिक)

श्रीमान् मूलचंदजी बूरड़ ने अपनी दादीजी श्रीमती सुश्राविका राजूबाई (श्रीमान् गुलाबचंदजी की धर्मपत्नी) के १५ उपवास की तपस्या के उपलक्ष में यह आर्थिक सहायता प्रदान की है। ज्ञान-प्रचार के आप बड़े प्रेमी मालूम हुए।

५०)०० श्रीमान् केवलचंदजी इन्दरचंदजी धोका।

आप (गुलबर्गा) के निवासी हैं। आपकी उदारता और धर्मप्रेम प्रशंसनीय है।

अपनी संस्था की ओर से उपर्युक्त सभी सज्जनों का मैं हार्दिक आभार मानता हूँ।

[सूचनाः—स्मरण रहे कि उपलब्ध आर्थिक सहायता के अतिरिक्त होने वाला अन्य खर्च संस्था ने उठाया है।

गली नं. २ } —कन्हैयालाल छाजेड़
धूलिया (प० खा०) } मन्त्री—श्री अमोल जैन ज्ञानालय

गुरु गोविंद दोनों खड़े, किसके लागूँ पाय।
धन्य-धन्य गुरुदेव को, जो गोविंद दियो बताय॥

एक प्रश्न है-माता बड़ी होती है या पिता बड़े होते हैं? जैन दृष्टि से पुरुष की अपेक्षा स्त्री की पुण्यशालिता कम मानी गई है, इसलिए माता से पिता ही बड़े हैं; उम्र तो बड़ी होती ही है, किन्तु अनुभव और योग्यता में भी प्रायः पिता बड़े होते हैं- इतना सब कुछ होते हुए भी बच्चा पहले 'माँ को ही पुकारना सीखता है; क्यों कि माता का ही उस पर अधिक उपकार है। पिता की पहिचान भी माता ही कराती है, अन्यथा पुत्र नहीं जान सकता कि उसके पिता कौन है!

चमकीला हीरा भी अँधेरे में नहीं दीखता, सूर्य का प्रकाश चाहिये! और सूर्य के प्रकाश में भी अन्धे को नहीं दीखेगा; देखने के लिए आँखें चाहिये। जैसे सूर्य और हीरे की पहिचान आँखों से होती है, वैसे ही देव और धर्म की पहिचान गुरु से होती है।

देव, गुरु और धर्म—इस अनुक्रम में गुरु को बिचला स्थान मिला है। बीच में रहने वाले की जिम्मेदारी अधिक होती है। राजा और प्रजा के बीच में मन्त्री होता है, उसकी जिम्मेदारी कितनी अधिक होती है? उसे केवल वैसे ही काम करने का ध्यान रहता है कि जिससे न प्रजा नाराज हो, न राजा। ट्रेन में जो बिचला डब्बा होता है, उसे दोनों तरफ जुड़ना पड़ता है—आगे भी और पीछे भी। तराजू के दो पलड़ों के बीच में जो काँटा होता है, उसी पर न्याय करने की-सही वजन बताने की जिम्मेदारी रहती है अथवा ग्राहक और व्यापारी के बीच में तराजू होता है। तराजू की ही यह जिम्मेदारी है कि वह व्यापारी और ग्राहक दोनों को सन्तुष्ट रक्खे। यहाँ देव और धर्म के बीच में

है। बात असल में यह है कि जो "बुद्ध" नहीं है, वह बोध देगा कैसे ? जो स्वयं नहीं समझता, वह दूसरों को समझायगा कैसे ? जो स्वयं अन्धा है, वह दूसरों को रास्ता बतायगा कैसे ?

गुरु धर्म का उपदेश देते हैं, इसलिए धर्म के जानकार भी होते हैं। एक जैनाचार्य ने कहा है:—

धर्मज्ञो धर्मकर्त्ता च, सदा धर्मपरायणः ।
सत्त्वेभ्यो सर्वशास्त्रार्थ-देशको गुरुरुच्यते ॥

—कुमारपाल प्रबन्ध

अर्थात् जो धर्म का जानकार है, धर्म का पालन (आचरण) करने वाला है, सदा धर्म के लिए तत्पर रहता है और प्राणियों के लिए सभी शास्त्रों के अर्थ को समझाने वाला है, वही गुरु कहलाता है।

तिजोरी में लाखों की नोटें पड़ी हों सोने चाँदी के आभूषण रक्खे हों, किन्तु यदि उसकी चाबी न हो तो उनका उपभोग नहीं किया जा सकता। शास्त्र भी एक ऐसी तिजोरी है, जिसमें सम्यग्ज्ञानादि अनेक रत्न भरे पड़े हैं किन्तु उनकी प्राप्ति गुरु रूपी चाबी के बिना नहीं हो सकती।

आइये, अब जरा गुरु के पर्यायवाची शब्दों पर विचार करें, जिससे कि विभिन्न दृष्टियों से गुरु तत्त्व की विशेषताओं का पता लगे।

समण-

एक आचार्य ने इस शब्द की व्याख्या यों की है:—'सम्' इति शत्रुमित्रादिषु तुल्यया मनसि-प्रवर्त्तते इति समणः ॥

हल्के चित्त वाले (साधारण मनुष्य) ही ऐसा सोचते हैं कि यह अपना है और वह पराया, किन्तु जो उदारचरित (विशाल चित्त वाले) महापुरुष होते हैं, वे तो सारी वसुधा (पृथ्वी) को ही अपना कुटुम्ब समझते हैं। गुरु भी ऐसे ही उदार होते हैं। उनका उद्घोष होता है—"मित्ती मे सव्वभूएसु" मेरी समस्त जीवों के साथ मित्रता है। इसीलिए तो उनका कोई द्वेषी नहीं होता। जैसा कि कहा है:—

णत्थि य से कोई वेसो, पिओ य सव्वेसु चेव जीवेसु।
एएण होइ समणो, एसो अन्नोवि पज्जाओ॥

अर्थात् सभी जीवों में जिसका न कोई द्वेष्य (अप्रिय) है और न कोई प्रिय अर्थात् जिसका न किसी के प्रति द्वेष है, न राग; वही "समन" है। यह गुरु शब्द का दूसरा पर्यायवाची शब्द है।

श्रमण

यह शब्द "श्रमु तपसि खेदे च" इस धातु से बना है। व्याख्या यों की जाती है:—

श्राम्यति—संसारविषयखिन्नो भवति तपस्यतीति वा श्रमणः॥ अर्थात् जो सांसारिक विषयों से उदासीन रहता है अथवा जो तपस्या करता है, वह श्रमण है।

गुरु सांसारिक विषयों को तुच्छ समझते हैं—जैसा कि कहा है:—

"खिणमित्तसुक्खा, बहुकालदुक्खा॥"

पहली व्याख्या का आशय यह है कि जो सब प्रकार के सावद्य (पाप जनक) योगों से विवेक पूर्वक अलग हुए हैं, वे संयत कहलाते हैं। जो आत्मा का कर्मों के साथ अथवा ज्ञानादि गुणों के साथ संयोग कराते हैं, उन्हें योग कहते हैं। मन वचन और काया की शुद्ध प्रवृत्ति को शुभ-योग कहा जाता है और अशुद्ध प्रवृत्ति को अशुभ-योग। प्रवृत्ति शुभ भी हो और अशुभ भी-ऐसा कैसे कहा गया? इस प्रश्न के उत्तर में कहना है कि तलवार से हत्या भी होती है और रक्षा भी-अग्नि जलाने वाली तो है ही, किन्तु अन्न को पका कर वह मनुष्यों का पोषण भी करती है। ठीक वैसे ही मन, वचन और काया से यदि कोई चाहे तो पुण्य भी कमा सकता है और पाप भी। व्यापारी और ग्राहक के बीच में जैसी स्थिति दलाल की होती है वैसी आत्मा और पाप या ज्ञानादिगुण के बीच योग की समझनी चाहिये। जो संयत हैं, उनके योग उनकी आत्मा का पाप के साथ सम्पर्क नहीं होने देते।

दूसरी व्याख्या कहती है कि जो सदा (निरन्तर) यतना (सावधानी) रखते हैं, वे संयत हैं। भूलें असावधानी से होती हैं, इसलिए साधक सदा सावधान रहता है। सावधानी रखते हुए भी यदि कोई भूल हो जाय तो वह तुरन्त प्रतिक्रमण करता है, प्राय-श्चित्त लेता है और फिर शुद्ध हो जाता है।

साधु-

इस शब्द की विद्वान् तीन प्रकार से व्याख्या करते हैं:—

१—साधयति सम्यग्ज्ञान दर्शनचारित्रैर्मोक्षमिति साधुः॥

२—साधयति स्व-परकार्याणीति साधुः॥...

दूसरी व्याख्या से मालूम होता है कि जो ऐसे कार्यों की सिद्धि में लगा है कि जिनसे अपना भी भला हो और दूसरों का भी; वह साधु है। नाव जैसे स्वयं तैरती है और अपने आश्रितों को भी पार ले जाती है, उसी प्रकार साधु भी संसार-समुद्र में स्वयं तैरता है और दूसरे भव्यात्माओं को भी पार ले जाने का प्रयत्न करता है। "तिन्नाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहियाणं, मुत्ताणं मोयगाणं" आदि शब्द इसी गुण की ओर संकेत कर रहे हैं।

तीसरी व्याख्या बतलाती है कि जो अपने इच्छित अर्थ की साधना करता है वही साधु है। सब का वाञ्छित अर्थ सुख है-शाश्वत सुख। वैसा सुख है मोक्ष। इसलिए जो मोक्ष पाने के लिए साधना करता है, वही साधु है।

भिक्षु-

इस शब्द की व्याख्या यों की गई है:—"भिनत्ति ज्ञान-दर्शन-चारित्रतया अष्टप्रकारं कर्म इति भिक्षुः॥ अथवा भिनत्ति तपसा कर्म इति भिक्षुः॥

जो भेदन करता है, वह भिक्षु है। किनको? आठ प्रकार के कर्मों को। किन से? ज्ञान, दर्शन और चारित्र से। अथवा जो तपस्या के द्वारा कर्मों का भेदन करता है, वह भिक्षु है।

साधारणतः भिक्षु शब्द का अर्थ समझा जाता है—भीख माँगने वाला भिखारी; परन्तु उपर्युक्त व्याख्या बतलाती है कि जो कर्मों का भेदन करता है, वही वास्तव में "भिक्षु" कहलाने योग्य है। दूध के साथ दूध मिला हो तो ठीक है किन्तु यदि पानी मिला हो तो उसे अग्नि के संयोग से जला दिया जाता है, वैसे ही आत्मा के साथ ज्ञानादि गुणों का संयोग न होकर यदि कर्मों का संयोग

दूसरी व्याख्या से मालूम होता है कि जो ऐसे कार्यों की सिद्धि में लगा है कि जिनसे अपना भी भला हो और दूसरों का भी; वह साधु है। नाव जैसे स्वयं तैरती है और अपने आश्रितों को भी पार ले जाती है, उसी प्रकार साधु भी संसार-समुद्र में स्वयं तैरता है और दूसरे भव्यात्माओं को भी पार ले जाने का प्रयत्न करता है। "तिन्नाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहियाणं, मुत्ताणं मोयगाणं" आदि शब्द इसी गुण की ओर संकेत कर रहे हैं।

तीसरी व्याख्या बतलाती है कि जो अपने इच्छित अर्थ की साधना करता है वही साधु है। सब का इच्छित अर्थ सुख है-शाश्वत सुख। वैसा सुख है मोक्ष। इसलिए जो मोक्ष पाने के लिए साधना करता है, वही साधु है।

भिक्षु-

इस शब्द की व्याख्या यों की गई है:—"भिनत्ति ज्ञान-दर्शन-चारित्रतया अष्टप्रकारं कर्म इति भिक्षुः॥ अथवा भिनत्ति तपसा कर्म इति भिक्षुः॥

जो भेदन करता है, वह भिक्षु है। किनको? आठ प्रकार के कर्मों को। किन से? ज्ञान, दर्शन और चारित्र से। अथवा जो तपस्या के द्वारा कर्मों का भेदन करता है, वह भिक्षु है।

साधारणतः भिक्षु शब्द का अर्थ समझा जाता है—भीख माँगने वाला भिखारी; परन्तु उपर्युक्त व्याख्या बतलाती है कि जो कर्मों का भेदन करता है, वही वास्तव में "भिक्षु" कहलाने योग्य है। दूध के साथ दूध मिला हो तो ठीक है किन्तु यदि पानी मिला हो तो उसे अग्नि के संयोग से जला दिया जाता है, वैसे ही आत्मा के साथ ज्ञानादि गुणों का संयोग न होकर यदि कर्मों का संयोग

दूसरी व्याख्या से मालूम होता है कि जो ऐसे कार्यों की सिद्धि में लगा है कि जिनसे अपना भी भला हो और दूसरों का भी; वह साधु है। नाव जैसे स्वयं तैरती है और अपने आश्रितों को भी पार ले जाती है, उसी प्रकार साधु भी संसार-समुद्र में स्वयं तैरता है और दूसरे भव्यात्माओं को भी पार ले जाने का प्रयत्न करता है। "तिन्नाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहियाणं, मुत्ताणं मोयगाणं" आदि शब्द इसी गुण की ओर संकेत कर रहे हैं।

तीसरी व्याख्या बतलाती है कि जो अपने इच्छित अर्थ की साधना करता है वही साधु है। सब का इच्छित अर्थ सुख है-शाश्वत सुख। वैसा सुख है मोक्ष में। इसलिए जो मोक्ष पाने के लिए साधना करता है, वही साधु है।

भिक्षु-

इस शब्द की व्याख्या यों की गई है:—"भिनत्ति ज्ञान-दर्शन-चारित्रतया अष्टप्रकार कर्म इति भिक्षुः। अथवा भिनत्ति तपसा कर्म इति भिक्षुः॥

जो भेदन करता है, वह भिक्षु है। किन को? आठ प्रकार के कर्मों को। किन से? ज्ञान, दर्शन और चारित्र से। अथवा जो तपस्या के द्वारा कर्मों का भेदन करता है, वह भिक्षु है।

साधारणतः भिक्षु शब्द का अर्थ समझा जाता है—भीख माँगने वाला भिखारी; परन्तु उपर्युक्त व्याख्या बतलाती है कि जो कर्मों का भेदन करता है, वही वास्तव में "भिक्षु" कहलाने योग्य है। दूध के साथ दूध मिला हो तो ठीक है किन्तु यदि पानी मिला हो तो उसे अग्नि के संयोग में जला दिया जाता है, वैसे ही आत्मा के साथ ज्ञानादि गुणों का संयोग न होकर यदि कर्मों का संयोग

एक प्रश्न है—यदि ऐसी बात है, तब तो कोई भी 'मुनि' नहीं कहला सकेगा. क्योंकि जितने भी साधु-सन्यासी हैं, वे सब व्याख्यान देते हैं, प्रवचन करते हैं, बोलते हैं। मुनि बनने के लिए इन सबको चुप रहना चाहिये क्या ?

प्रश्न अच्छा है। समाधान पर विचार कीजिये। यहाँ मौन का आशय सर्वथा चुप रहना नहीं है, सिर्फ सावद्य-कार्यों में चुप रहना है। जैसे किसी युवक के लिए उसके माता-पिता शादी का मुहूर्त्त पूछ बैठे तो मुनि मौन रहेगा, परन्तु यदि कोई प्रत्याख्यान लेना चाहे तो अवश्य बोलेगा। सिर्फ आरम्भ-कार्यों में मौन रहना है, अनारम्भ कार्यों में या त्याग के कार्यों में नहीं। त्यागी होने से मुनि त्याग की प्रेरणा भी करता है, इसलिए व्याख्यान प्रवचन आदि के लिए बोलने में कोई हरकत नहीं है !

मौन का अर्थ है-ऐसे वचन न बोलना कि जिनसे किसी के दिल में चोट पहुँचे। जैसे अन्धे को 'अन्धा' कह कर पुकारना बुरा है, क्योंकि इससे अन्धे का दिल दुखता है, परन्तु अन्धे को 'सूरदास' या 'प्रज्ञाचक्षु' कहा जाय तो अनुचित नहीं।

मौन का अर्थ आलसी बनकर चुप-चाप बैठे रहना नहीं है, अन्यथा एकेन्द्रिय जीवों को भी मुनि मानना पड़ेगा। वाणी का उच्चारण कहाँ करते हैं वे ? पुद्गलों को भी मुनि समझना पड़ेगा ! प्रवृत्तिशील कहाँ होते हैं वे ? असल में मन-वचन-काया को अप्रशस्त प्रवृत्ति से रोकना ही मौन है। जैसा कि नीचे लिखे श्लोक द्वारा किसी आचार्य ने कहा है.—

सुलभं वागनुच्चारं, मौनमेकेन्द्रियेष्वपि ।
पुद्गलेष्वप्रवृत्तिस्तु, योगानां मौनमुत्तमम् ॥

अणगार द्रव्य से अपना घर छोड़ता है और भाव से आसक्ति (ममत्व)।

निर्ग्रन्थ–

इस शब्द की समानार्थक दो व्याख्याएँ देखने में आई हैः–

१—निर्गतो ग्रन्थाद् द्रव्यतः सुवर्णादिरूपाद् भावतः मिथ्यात्वादिलक्षणादिति निर्ग्रन्थः ॥

२—निर्गतो बाह्याभ्यन्तररूपो ग्रन्थोऽस्य इति निर्ग्रन्थः ॥

जो ग्रन्थ (गाँठ) से निकल गया है, वह निर्ग्रन्थ है। गाँठ जैसे बाँधने का काम करती है, वैसे ही जो आत्मा को बन्धन में डालने वाले हैं, वे "ग्रन्थ" कहलाते हैं। ग्रन्थ दो प्रकार के होते हैं—द्रव्यग्रन्थ और भावग्रन्थ अथवा बाह्यग्रन्थ और आभ्यन्तर-ग्रन्थ। सोने चाँदी के आभूषण, मकान, बहुमूल्य वस्त्र आदि पहले प्रकार के ग्रन्थ हैं और मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय आदि दूसरे प्रकार के। जो इन दोनों प्रकार के ग्रन्थों से मुक्त हैं, वे ही साधु निर्ग्रंथ हैं।

यहाँ भी एक प्रश्न खड़ा होता है, कि इस व्याख्या के अनुसार तो सिर्फ सिद्ध देव या अरिहन्त देव ही निर्ग्रन्थ कहला सकेंगे; फिर आचार्य आदि को निर्ग्रन्थ कैसे माना जाय ?

इस प्रश्न का समाधान एक आचार्य के ही शब्दों में इस इस प्रकार हैः—

"भावज्जेण विमुक्का, अब्भिंतर-बाहिरेण गंथेण।
निग्गदतरमा य वि हु, तेणेवं होंति णिग्गंथा॥"

पाँच समिति और तीन गुप्ति के धारण करने वाले हैं. सो ये अट्ठारह गुण पहले के अट्ठारह गुणों के साथ मिलाने पर कुल छत्तीस गुण हुए। ये छत्तीस गुण जिनमें हों, वे ही मेरे गुरुदेव हैं।

पञ्चेन्द्रिय संवरण–

"इदि परमैश्वर्ये" इस धातु से इन्द्र शब्द बना है, जिसका अर्थ है-परम ऐश्वर्यशाली जीव। उस जीव का जो चिन्ह है, वही इन्द्रिय कहलाता है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो शब्द, रूप गन्ध, रस और स्पर्श इन पाँच कामगुणों का जो अनुभव करती हैं, वे इन्द्रियाँ कहलाती हैं। कामगुण पाँच हैं, इसलिए इन्द्रियाँ भी पाँच ही हैं। कोषकार कहते हैं:—

"पञ्च इन्द्रियाणी तेषां संवरणम् = इष्टानिष्ट-विषयेषु रागद्वेषाभ्यां प्रवर्त्तमानानां निग्रहणम् इति पंचेन्द्रियसंवरणम् ॥"

पाँच इन्द्रियों का संवरण क्या है? राग और द्वेष के द्वारा इष्ट या अनिष्ट विषयों में इन्द्रियों की जो प्रवृत्ति होती है, उसका निग्रह करना उस पर अंकुश रखना।

किसी पुरुष को पाँच पत्नियाँ हों और वह अतिभोग में आसक्त रहा करे तो जैसे धीरे धीरे कमजोर होता जायगा वैसे ही पाँच इन्द्रियों के विषय में आसक्त जो प्राणी होता है, उसका अध्यात्मिक-जीवन कमजोर होता जाता है। किसी घड़े में जल भरा हो और उसी में कोई यदि पाँच छिद्र बना दे तो परिणाम स्वरूप धीरे-धीरे उस घड़े का सारा जल समाप्त हो जायगा, ठीक वैसे ही आत्मा रूपी घड़े में अनन्त-गुणों का अमृत भरा पड़ा है, किन्तु इन्द्रिय रूपी पाँच छिद्रों के द्वारा वह बाहर निकलता जा रहा है। इसीलिए इन इन्द्रियों के संवरण की सलाह दी गई है।

ब्रह्मचर्य-गुप्ति

कोषकार कहते हैं:—"ब्रह्म=कुशलानुष्ठानम् तच्चर्यम्=आसेव्यमिति ब्रह्मचर्यम् । तस्य ब्रह्मचर्यस्य=अमैथुनव्रतः गुप्तयो=रक्षाप्रकाराः इति ब्रह्मचर्यगुप्तयः ॥

अच्छे कार्यों को ब्रह्म कहते हैं, उनके सेवन को ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचर्य की जिस से रक्षा होती है, उसे कहते हैं—ब्रह्मचर्य-गुप्ति। इस व्याख्या से मालूम होता है कि ब्रह्मचर्य में कितनी विशालता है! एक ब्रह्मचर्य में ही सारे कर्त्तव्यों का समावेश हो जाता है। इसीलिए तो तपस्याओं में ब्रह्मचर्य को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

ब्रह्मचर्य का एक साधारण अर्थ भी है—वीर्यरक्षा अथवा स्त्रीसंगपरित्याग। यहाँ यही अर्थ अभीष्ट है; क्योंकि इसी अर्थ के आधार पर ६ गुप्तियों का वर्णन आया है। अंगोपांगों के यथा-योग्य संचालन के लिए शरीर में जैसे खून की अनिवार्य आवश्यकता है, वैसे ही बुद्धि को सन्मार्ग पर चलाने के लिए वीर्य की भी।

ब्रह्मा, विष्णु और महेश में पहले ब्रह्मा को गिनाया जाता है, क्योंकि ब्रह्मा ही वृद्ध हैं—बड़े हैं; वैसे ही शरीर की सातों धातुओं में वीर्य श्रेष्ठ माना गया है। यदि श्रेष्ठ है, तो उसकी रक्षा का ध्यान भी रखना ही चाहिये। रक्षा के ६ प्रकार शास्त्रकारों ने उदाहरण सहित यों बताये हैं:—

१—जहाँ स्त्री, पशु और नपुंसक रहते हों, वहाँ ब्रह्मचारी को नहीं रहना चाहिये। क्योंकि कहा है:—

"जहा विडालावसहस्स मूले,
न मूसगाणं वसही पसत्था।

५—दीवाल, परदा आदि की आड़ (ओट) में रह कर ब्रह्मचारी, स्त्री-पुरुषों की कामक्रीड़ा के शब्द सुने नहीं। जहां रहने से वैसे शब्द सुनाई पड़ते हों, उस स्थान में भी रहे नहीं। क्योंकि मेघ की गर्जना सुनने पर जैसे मयूर नाच उठता है, वैसे ही स्त्री-पुरुषों की काम-क्रीड़ा के शब्द सुनने पर ब्रह्मचारी का मन भी चंचल हो उठता है।

६—पूर्वक्रीड़ित (ब्रह्मचर्य-व्रत स्वीकार करने से पहले स्त्री के साथ जो कामभोग का सेवन किया गया हो उस) का ब्रह्मचारी स्मरण न करें। स्मरण के दुष्फल को एक दृष्टान्त द्वारा बताया गया है:—

एक गांव से दो मित्र किसी शहर की ओर रवाना हुए—पैसा कमाने के लिए। रास्ते में रात हो गई। कुछ ही दूर एक छोटासा गांव दिखाई पड़ा। रात बिताने के लिए वे उसी की ओर बढ़े। इन परदेशियों को देख कर एक बुढ़िया ने करुणाभाव से अथवा आतिथ्य के विचार से उन्हें अपने घर में ठहरा लिया। वे ठहर गये शरीर में थकावट थी—सो गये—गहरी नींद आ गई।

बुढ़िया चौथे प्रहर में उठ कर दही बिलोया करती थी, सो यथा समय उठी और दही की मटकियों को बड़े बर्त्तन में उड़ेल-उड़ेल कर बिलोना शुरू कर दिया। बिलोने की आवाज आगन्तुकों के कानों से टकराई तो नींद खुल गई। बिछौना छोड़ कर उठ बैठे-प्रभुस्मरण किया और फिर विचार-विमर्श करके यह निश्चय किया कि हमें इसी समय शहर की ओर प्रस्थान कर देना चाहिये, जिससे कि दोपहर की प्रखर धूप में चलने का मौका न आये।

इधर बुढ़िया ने देखा कि मेहमान जाने की तैयारी में लगे हैं तो तुरन्त एक-एक लोटा ताजा छाछ भर कर उनको देते हुए

यह सुनते ही उनमें से एक मित्र तो उस भयंकर घटना की स्मृति से वेहोश होकर सदा के लिए सो गया और दूसरे ने उस बात पर विशेष विचार ही न किया-इसलिए बच गया, अन्यथा वह भी परम धाम पहुँच गया होता।

इस दृष्टान्त से सूत्रकार यह कहना चाहते हैं कि जहरीली छाछ पीने की घटना को वर्षों बाद याद करने पर भी जैसे एक मित्र को मौत के घाट उतरना पड़ा, वैसे ही संयमी जीवन स्वीकार करने से पहले गृहस्थावस्था में भोगे हुए काम भोगों का स्मरण करने वाले ब्रह्मचारी की भी दुर्दशा हो जाती है और उस घटना पर विशेष विचार न करने वाले दूसरे मित्र के प्राणों की जैसे रक्षा हुई वैसे ही पूर्व क्रीड़ित का स्मरण न करने वाले मुनि के के भी ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है।

७—ब्रह्मचारी को चाहिये कि वे प्रतिदिन स्वादिष्ट रसीले भोज्यपदार्थों को खायें नहीं; क्योंकि ऐसे पदार्थ वासना-वर्द्धक होते हैं। सन्निपात के रोगी को यदि दूध, घी, शक्कर आदि खिलाये जायँ तो परिणाम कितना भयंकर होता है?

८—ब्रह्मचारी को भोजन की मात्रा का विचार रखना चाहिये। ठूँस-ठूँस कर खाने का परिणाम अच्छा नहीं होता। अधिक खाने से अजीर्ण हो जाता है। वैद्यों का कथन है कि स्वप्न-दोष के अनेक कारणों में से अजीर्ण भी एक कारण है। अजीर्ण से और भी अनेक रोग पैदा होते हैं। इसलिए स्वास्थ्यरक्षा के लिए ही नहीं, बल्कि वीर्यरक्षा के लिए भी भोजन की परिमितता जरूरी है। सेरभर की हंडिया में सवा सेर वस्तु कौन डालता है? मूर्ख ही; वैसे ही मर्यादा से अधिक भोजन करने वाले भी मूर्ख हैं।

९—ब्रह्मचारी अपने शरीर की विभूषा (शृंगार या सजा-वट) न करें सुन्दर रुमाल में कंकर बांध कर रख दिया जाय

६—तूअर आदि के कसैले रस में भिगोये गये वस्त्र पर चढाया जाने वाला मंजिष्टादि का रंग जैसे चिपक जाता है और फिर लम्बे समय तक टिकता है, वैसे ही कषायों से कलुषित (भीगी हुई) आत्मा पर कर्म चिपक जाते हैं और काफी समय तक टिकते हैं इसलिए कपाय को उस कसैले रस की उपमा यहाँ दी गई है।

कषायों की भयंकरता नीचे लिखी दो गाथाओं के द्वारा समझाई गई है:—

अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं कसायथोवं च।
न हु भे वीससियव्वं, थोवं पि तं बहुं होइ॥
दासत्तं देइ अणं, अचिरा मरणं वणो विसप्पंतो।
सव्वस्स दाहमग्गी, देंति कसाया भवमणंतं॥

अर्थात् ऋण, व्रण (घाव या फोड़ा), अग्नि और कषाय ये थोड़े भी हों तो बहुत हो जाते हैं, इसलिए इन पर जरा भी विश्वास नहीं करना चाहिये। ऋण से दासता (गुलामी) मिलेगी, व्रण यदि फैल गया तो शीघ्र ही मृत्यु हो जायगी, अग्नि बढ़ गई तो सारे नगर को जलाकर भस्म कर देगी, परन्तु कषाय यदि बढ़ गये तो वे अनन्त भवों तक प्राणी को भटकाते रहेंगे।

कषाय की ऐसी भयंकरता की जनसाधारण को कल्पना नहीं होती, परन्तु गुरुदेव यह बात खूब समझते हैं, इसलिए हमेशा कषाय से दूर रहने का प्रयत्न करते रहते हैं।

महाव्रत

महान्ति=बृहन्ति च तानि व्रतानि च इति महाव्रतानि॥

पाँच इन्द्रिय, तीन बल और श्वासोच्छ्वास तथा आयु· ये कुल दस प्राण कहलाते हैं। जिन जीवों के साथ प्राण होते हैं, वे प्राणी कहलाते हैं। प्राणियों के प्राणों का वियोग कराना ही प्राणातिपात है, जिसे हिंसा भी कह सकते हैं। गुरुदेव सर्वथा हिंसा का परित्याग कर देते हैं-पूर्ण अहिंसक होते हैं।

(२) सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं

तीन करण तीन योग से मृषावाद का परित्याग करना। गुरुदेव सत्यवादी होते हैं; वे कभी झूठ नहीं बोलते।

(३) सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं

तीन करण तीन योग से अदत्तादान को छोड़ना। अद· त्तादान की व्याख्या है:—

"अदत्तं स्वामिना अवितीर्णं, तस्य आदानं ग्रहणम् अदत्तादानम् ॥"

जो वस्तु उसके मालिक के द्वारा नहीं दी गई है, उसे ग्रहण करना अदत्तादान है, जिसे लौकिक भाषा में 'चोरी' कहा जाता है। गुरुदेव पूर्ण ईमानदार होते हैं। वे जरा भी चोरी नहीं करते। यहाँ तक की जंगल में किसी झाड़ के नीचे विश्राम के लिए बैठना हो तो भी पहले शक्रेन्द्र की आज्ञा लेते हैं और फिर बैठते हैं।

(४) सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं

तीन करण तीन योग से मैथुन का त्याग करना। मैथुन की व्याख्या यह है।

"मिथुनम्=स्त्रीपुंसद्वन्द्वं, तस्य यत्कर्म तन्मैथुनम् ॥"

होते हैं। यदि वे निकम्मे पड़े रहें—कुछ काम में न आयें, तो वे भी परिग्रह ही माने जायँगे। महात्मा गाँधी ने एक बार कहा था:—

"वे सारी वस्तुएँ परिग्रहरूप हैं, जो हमारे पास हैं, पर जिनकी हमें आज जरूरत नहीं है!"

इस दृष्टि से विचार किया जाय तो मानना पड़ेगा कि किसी मुनि के पास यदि कोई ऐसा वस्त्र या पात्र है, जिसका उपयोग नहीं लिया जाता, परिग्रह है। यदि कोई ऐसा ग्रन्थ है, जिसका स्वाध्याय नहीं किया जाता, परिग्रह है। यदि कोई ऐसा कम्बल है, जो प्रतिदिन ओढने के काम नहीं आता, परिग्रह है। गुरुदेव पूर्ण निष्परिग्रही होते हैं।

आचारपालन

नींबू, आम आदि के आचार से भोजन में जैसे रुचि बढ़ जाती है, वैसे ही आध्यात्मिक-साधना की रुचि बढ़ाने के लिए पाँच आचार हैं:—

(१) ज्ञानाचार:—बत्तीस सूत्रों का स्वाध्याय करना, उन्हें स्वयं भली-भाँति हृदयंगम करना तथा दूसरों को कराना, सूत्रों पर सुगम टीकाएँ लिखना, भाषण-प्रवचन-व्याख्यान आदि के द्वारा ज्ञान का प्रचार करना आदि "ज्ञानाचार" है।

(२) दर्शनाचार:—जो वीतराग हैं, वे ही देव हैं—जो निर्ग्रन्थ छत्तीस गुणों के धारक हैं, वे ही गुरु हैं—जो धर्म दया-प्रधान है, वही धर्म है ऐसी अटल श्रद्धा स्वयं रखना तथा दूसरों को भी वैसी श्रद्धा में स्थिर करना "दर्शनाचार" है।

(३) चारित्राचार:—सत्रह प्रकार के संयम का स्वयं पालन करना तथा दूसरों को भी पालन करते रहने के लिए प्रेरणा

२—आ (मर्यादया) चारः (विहारः) इति आचारः ॥

अर्थात "गामे गामे एगरायं नगरे नगरे पंच रायं" इस काल की मर्यादा के अनुसार विहार (परिभ्रमण करना) आचार है।

३—आचर्यते ज्ञानादिगुणवृद्धये इति आचारः ॥

अर्थात् ज्ञानदर्शन चारित्र आदि गुणों की वृद्धि के लिए जो कुछ किया जाता है, वह आचार है।

४—आचारांग शास्त्र-विहितो व्यवहारः इति आचारः ॥

बारह अंग सूत्रों में से पहला सूत्र है:—आचारांग। इस सूत्र के विधान के अनुसार कर्त्तव्यों में अपने जीवन को ढालना ही आचार है।

५—आचरणीयमित्याचारः ॥

अर्थात् जो कुछ करने योग्य है, वह सब आचार है।

इन व्याख्याओं में से अन्तिम व्याख्या काफी विशाल है। सभी धर्मों का इस एक ही शब्द में समावेश हो जाता है। गुरुदेव आचार का पूर्ण सावधानी से पालन किया करते हैं।

समिति–गुप्ति

सम्यग् इतिः=प्रवृत्तिः इति समितिः ॥

अर्थात् ठीक प्रवृत्ति अथवा विवेक–युक्त प्रवृत्ति को "समिति" कहते हैं। समितियाँ कुल पाँच हैं:—

मन, वचन, काया की अशुभ-प्रवृत्ति को रोकना गुप्ति है। गुप्तियाँ तीन हैं—मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और कायगुप्ति।

उपर्युक्त पाँच समिति और तीन गुप्तियों को अष्ट-प्रवचन माता भी कहते हैं। समिति-गुप्ति से ही द्वादशांगी जिनेवाणी-रूपी प्रवचन का जन्म हुआ है।

समिति प्रवृत्ति प्रधान है और गुप्ति निवृत्ति-प्रधान। इस-लिए जो समित है, वह तो गुप्त है ही, किन्तु जो गुप्त है, वह समित होता भी है और नहीं भी होता। जैसा कि कहा है:—

"समिओ नियमा गुत्तो, गुत्तो समिअत्तणंमि भइयव्वो॥"

दूसरे शब्दों में कहा जाय तो गुप्ति निरन्तर रहती है, पर समिति प्रसंग या प्रयोजन से रहती है।

गुरुदेव पाँच समिति और तीन गुप्ति का भली भाँति पालन करते हैं इस प्रकार जो छत्तीस गुणों से युक्त हैं, वे ही सच्चे 'गुरु' कहलाने योग्य हैं।

एक डाक्टर है, जिसके पास हजारों रोगी आते हैं और एक गुरुदेव हैं, जिनके पास उपदेश सुनने के लिए हजारों नागरिक आते हैं, दोनों में से जिम्मेदारी किसकी अधिक है? गुरुदेव की ही। डाक्टर की भूल से रोगी इसी भव में कष्ट पाता है, जबकि गुरुदेव की भूल से प्राणी भव-भव में कष्ट पाता है! गुरुदेव को अपनी जिम्मेदारी निभाने के लिए उपर्युक्त छत्तीस गुणों से युक्त होना ही चाहिये।

कृतज्ञता

सज्जनो! गुरुदेव के विषय में अब तक जो कुछ कहा गया है, वह मेरा अपना कहाँ? शास्त्रोद्धारक-बालब्रह्मचारी-जैन-

णिक्खममाणाइ य बुद्धवयणे,
णिच्चं चित्तसमाहिओ हविज्जा।
इत्थीण वसं न या वि गच्छे,
वंतं नो पडिआयइ जे स भिक्खू ॥

अर्थः—जो महापुरुषों के उपदेश से दीक्षा लेकर जिन वचनों में सदा स्थिर चित्त वाला होता है और स्त्रियों के वशीभूत नहीं होता तथा वमन किये हुए अर्थात् छोड़े हुए काम-भोगों को फिर स्वीकार करने की इच्छा तक नहीं करता, वह शास्त्रोक्त विधि से तप द्वारा पूर्व सञ्चित कर्मों का भेदन करने वाला भिक्षु कहलाता है।

पुढविं न खणे न खणावए,
सीओदगं न पिए न पियावए।
अगणिसत्थं जहा सुणिसियं,
तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥

अर्थ—जो सचित्त पृथ्वी को स्वयं नहीं खोदता और दूसरों से नहीं खुदाता तथा खोदने वालों की अनुमोदना भी नहीं करता है; जो सचित जल को स्वयं नहीं पीता दूसरों को नहीं पिलाता और पीने वालों की अनुमोदना भी नहीं करता है; जो अग्नि खड्गादि तीक्ष्ण शस्त्र के समान है उसको जो स्वयं नहीं जलाता दूसरों से नहीं जलवाता और जलाने वालों की अनुमोदना भी नहीं करता है अर्थात् जो पृथ्वीकाय अप्काय और तेउकाय (अग्निकाय) की तीन करण तीन योग से हिंसा नहीं करता है वह भिक्षु कहलाता है।

साधुओं को निमन्त्रण करके अथवा देकर भोजन करता है और भोजन करके जो स्वाध्यायादि में रत रहता है वह भिक्षु कहलाता है।

न य वुग्गहियं कहं कहिज्जा,
न य कुप्पे णिहुइंदिए पसंते।
संजमे धुवं जोगेण जुत्ते,
उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू ॥

अर्थ—जो कलह उत्पन्न करने वाली कथा नहीं करता, किसी पर क्रोध नहीं करता, इन्द्रियों को सदा वश में रखता है, मन को सदा शान्त रखता है और जो संयम में सदा तल्लीन रहता है, कष्ट पड़ने पर भी जो आकुल व्याकुल नहीं होता है और यथासमय करने योग्य प्रतिलेखना, प्रतिक्रमण आदि कार्यों में जो उपेक्षा नहीं करता है, अपितु सभी क्रियाएँ यथाकाल करता है, वह भिक्षु कहलाता है।

जो सहइ उ गामकंटए,
अक्कोसपहारतज्जणाओ य।
भयभेरवसद्दप्पहासे,
समसुहदुक्खसहे य जे स भिक्खू ॥

अर्थ—जो श्रोत्र आदि इन्द्रियों को काँटे के समान दुः उत्पन्न करने वाले कठोर वचन, प्रहार, ताड़ना और तर्जना आ को समभाव पूर्वक सहन कर लेता है और जहाँ अत्यन्त भय उत्पन्न करने वाले भूत वेताल आदि के भयंकर शब्द होते हों ऐ स्थानों में भी जो निर्भय होकर ध्यानादि में निश्चल बना रहता और जो सुख दुःख को समान समझ कर समभाव रखता है, वह भिक्षु कहलाता है।

कर लेना कि 'मेरी तपस्या के फल स्वरूप मुझे अमुक चीज की प्राप्ति हो' इसे निदान (नियाणा) कहते हैं।

एक समय राजगृह नगर में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे। श्रेणिक राजा और चेलना रानी बड़े समारोह के साथ भगवान् को वन्दना करने गये। राजा की समृद्धि को देख कर कुछ साधुओं ने मन में सोचा—'कौन जानता है देवलोक कैसा है? श्रेणिक राजा सब तरह से सुखी है। इससे बढ़ कर देवलोक क्या हो सकता है?' उन्होंने मन में निश्चय किया कि—हमारी तपस्या का फल यही हो कि हम श्रेणिक सरीखे राजा बनें। साध्वियों ने चेलना को देखा। उन्होंने भी संकल्प किया कि—हम अगले जन्म में चेलना रानी सरीखी भाग्यशालिनी बनें।'

उसी समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने साधु साध्वियों को बुला कर निदानों (नियाणों) का स्वरूप और नौ भेद बताये और फरमाया कि जो व्यक्ति नियाणा करके मरता है वह एक बार नियाणे के फल को प्राप्त करके फिर बहुत काल तक के लिए संसार में परिभ्रमण करता है। नियाणे नौ हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) एक पुरुष किसी दूसरे समृद्धिशाली पुरुष को देख कर उस सरीखा होने का नियाणा करता है।

(२) स्त्री अच्छा पुरुष प्राप्त होने के लिए नियाणा करती है।

(३) पुरुष स्त्री के लिए नियाणा करता है।

(४) स्त्री-स्त्री के लिए नियाणा करती है अर्थात् सुखी स्त्री को देख कर उस सरीखी होने का नियाणा करती है।

(५) देवगति में देव रूप से उत्पन्न होकर अपनी तथा दूसरी देवियों को वैक्रिय शरीर द्वारा भोगने का नियाणा करता है।

विइत्तु जाइमरणं महब्भयं,
तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ॥

अर्थ—जो शरीर से परीषहों को जीत कर संसार समुद्र से अपनी आत्मा का उद्धार कर लेता है तथा जन्म मरण को महाभयकारी और अनन्त दुःखों का कारण जान कर संयम और तप में रत रहता है वह भिक्षु कहलाता है।

हत्थसंजए पायसंजए,
वायसंजए संजइंदिए।
अज्झप्परए सुसमाहिअप्पा,
सुत्तत्थं च विआणइ जे स भिक्खू ॥

जो हाथों से संयत है और जो पैरों से संयत है अर्थात् हाथ पैर आदि अवयवों को कछुए की तरह संकोच कर रखता है और आवश्यकता पड़ने पर यतनापूर्वक कार्य करता है। जो वचन से संयत है अर्थात् किसी को सावद्य एवं परपीड़ाकारी वचन नहीं कहता है तथा जो सब इन्द्रियों को वश में रखता है और अध्यात्म रस में एवं धर्म ध्यान शुक्ल ध्यान में रत रहता है, जो अपनी आत्मा को संयम में लगाये रखता है, जो सूत्र और अर्थ को यथार्थ रूप में जानता है, वह भिक्षु कहलाता है।

उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे,
अएणाय उंछं पुलणिप्पुलाए,
कयविक्कय सण्णिहिओ विरए,
सव्वसंगावगए य जे स भिक्खू ॥

अर्थ—जो किसी भी दूसरे व्यक्ति को 'यह दुराचारी है' ऐसा वचन नहीं बोलता है और जो ऐसे वचन भी नहीं बोलता है, जिन्हें सुन कर दूसरों को क्रोध उत्पन्न हो। प्रत्येक जीव अपने-अपने पुण्य-पाप अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के अनुसार सुख-दुःख भोगते हैं, ऐसा जानकर जो अपने ही दोषों को दूर करता है तथा अपने आपको सबसे बढ़कर एवं उत्कृष्ट मान कर जो अभिमान नहीं करता, वह भिक्षु कहलाता है।

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते,
न लाभमत्ते न सुएण मत्ते।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता,
धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू ॥

अर्थ—जो जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, श्रुत और ऐश्वर्य इन सब मदों को छोड़ कर धर्मध्यान में सदा लीन रहता वह भिक्षु कहलाता है।

पवेयए अज्जपयं महामुणी,
धम्मे ठिओ ठावयइ परं पि।
णिक्खम्म वज्जिज्ज कुसीललिंगं,
न यावि हासं कुहए जे स भिक्खू ॥

अर्थ—जो महामुनि परोपकार की दृष्टि से शुद्ध एवं सच्चे धर्म का उपदेश देता है, जो स्वयं अपनी आत्मा को सद्धर्म में स्थिर करके दूसरों को भी सद्धर्म में स्थिर करता है तथा जो दीक्षा लेकर अर्थात् साधु के महाव्रत ग्रहण करके आरम्भ समारम्भ रूप गृहस्थ की क्रिया को एवं कुसाधुओं के सङ्ग को छोड़ देता है और हास्य

है। इसलिए लोभ को छोड़ कर जिसने सम्यग् ज्ञान दर्शन चारित्र को अङ्गीकार कर लिया है वह अवश्य मोक्ष को प्राप्त करता है।

लोभ के विना अर्थात् लोभ का त्याग करके प्रव्रज्या अङ्गीकार करके कर्ममल से रहित यह पुरुष अनगार कहलाता है। इसका तात्पर्य यह है कि लोभ के वशीभूत पुरुष इहलौकिक और परलौकिक सुखों की प्राप्ति के लिए जीवहिंसा आदि अनेक विध पापाचरण करता है। जो पुरुष लोभ का त्याग करके संयम अङ्गीकार कर लेता है एवं चारित्र का विशुद्ध रूप से पालन करता है, वह थोड़े ही समय में सर्व कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

इस संसार में कितने ही प्राणी ऐसे हैं, जो साधु के वेश को धारण करके भी इस लोक या परलोक के सुख में पड़ जाते हैं। वे अपने को "साधु" कहने की धृष्टता करते हैं किन्तु वास्तव में वे साधु नहीं हैं। जो लोभ को जीत कर अकर्मा बनने की चेष्टा करते हैं वे ही सच्चे साधु-अनगार हैं।

२-त्यागी श्रमण

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के शिष्यों ने कैसा-कैसा त्याग करके प्रव्रज्या ली ? सो बताते हैं:—

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे समणा भगवंतो अप्पेगइया उग्गपव्वइया भोगपव्वइया रायपव्वइया णायपव्वइया कोरव्वपव्वइया खत्तियपव्वइया भडा जोहा सेणावइ पसत्थारो सेट्ठी इब्भा अण्णे य बहवे एवमाइणो उत्तमजाइकुलरूवविणयविण्णाण-वण्ण-लावण्ण-विक्कमप्पहाणसोभग्ग-कंतिजुत्ता बहुधण-धण्ण--णिचयपरियालफिडिया णरवइगुणाइरेगा इच्छियभोगा सुहसंपललिया किंपाग-फलोवमं च मुणिय विसय-सोक्खं जलबुब्बुयसमाणं कुसग्गजलबिंदुचंचलं जीवियं च णाऊण अद्धुवभिणं रयमिव पडग्गलग्गं संविधुणित्ता णं चइत्ता हिरण्णं जाव पव्वइया ॥

—उववाई

अर्थ—उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के अन्तेवासी (शिष्य) बहुत से श्रमण भगवन्त थे। उनमें से बहुत-से श्रमण उग्रकुल में से प्रव्रजित थे कोई श्रमण भोगकुल में से प्रव्रजित थे। कुछ राजन्य कुल में से प्रव्रजित थे। कितने ही

ज्ञातकुल में से, कौरवकुल में से और कितने ही क्षत्रियकुल में से प्रव्रजित थे। कई एक भट, योद्धा, सेनापति प्रशास्ता (धर्मशास्त्र पाठक), सेठ, इभ्य सेठ प्रव्रजित हुए थे और भी अन्य बहुत-से उत्तम जातिवान्, उत्तम कुलवान् रूप, विनय, विज्ञान, वर्ण, लावण्य, पराक्रम, सौभाग्य और कान्ति से युक्त प्रव्रजित हुए थे। जिनके पास बहुत धन धान्य था और जो बहुत परिवार से युक्त थे, वे इनको छोड़ कर प्रव्रजित हुए थे। राजा की ऋद्धि वैभव और सुख आदि से भी बढ़कर जिनके पास ऋद्धि, वैभव और सुख आदि थे वे भी इन सब को छोड़ कर प्रव्रजित हुए थे। जिनके पास इच्छित भोग थे और जो सुख में पले थे, वे उन काम भोगों को किंपाक-फल के समान जानते हुए तथा विषयसुखों को जल के बुल-बुले के समान समझ इन्हें छोड़ कर प्रव्रजित हुए थे। जिस प्रकार कुश के अग्रभाग पर रहा हुआ जल का बिन्दु चञ्चल होता है, उसी प्रकार इस जीवन को चञ्चल और अध्रुव जान कर प्रव्रजित हुए थे। जिस प्रकार कपड़े पर लगी हुई रज को झटक कर गिरा दिया जाता है, उसी प्रकार सोना चाँदी धन धान्य आदि को छोड़ कर प्रव्रजित हुए थे॥ १॥

टिप्पणी — आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव स्वामी ने जिनको रक्षक रूप से नियत किया था, उनका कुल "उग्रकुल" कहलाता है।

ऋषभदेव भगवान ने जिनको गुरुपद पर पूज्य रूप से स्थापित किया था उनका कुल "भोगकुल" कहलाता है।

ऋषभदेव भगवान् ने जिनको वयस्य (मित्र) रूप से स्थापित किया था उनका कुल "राजन्य" कुल कहलाता है।

जो इक्ष्वाकु वंश के हैं, उनको ज्ञातवंशज कहते हैं। अथवा 'ज्ञाय' शब्द का अर्थ है-'नाग'। अर्थात् नाग वंश के नागवंशज कहलाते हैं।

कुरुवंश में पैदा हुए "कौरव" कहलाते हैं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों में जो दूसरे वर्ण वाले हैं उनको क्षत्रिय कहते हैं, क्षत्रिय शब्द का अर्थ यह है—

"क्षतात् विनाशात् त्रायते रक्षतीति क्षत्रियः"

विनाश से जो रक्षा करे अर्थात् कष्ट एवं आपत्ति में पड़े हुए प्राणी की जो रक्षा करे, उसको "क्षत्रिय" कहते हैं।

योद्धा को भट कहते हैं और सहस्रयोद्धा अर्थात् जो अकेला ही एक हजार योद्धाओं के साथ युद्ध करने में समर्थ हो उसको यहाँ पर 'योद्धा' शब्द से कहा गया है।

जो श्री देवता से अधिष्ठित हो और जिसके मस्तक पर स्वर्णपट्ट अलङ्कृत हो, उसे श्रेष्ठी (सेठ) कहते हैं। धन के ढेर से हाथी डूब जाय इतना धन जिसके पास हो उसको 'इभ्य' सेठ कहते हैं

मातृपक्ष (ननिहाल पक्ष) को जाति कहते हैं। पितृपक्ष (पिता, दादा, परदादा आदि पक्ष) को कुल कहते हैं।

३-प्रव्रज्या के प्रकार

मुनि प्रव्रज्या (दीक्षा) के भेद बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं:-

तिविहा पव्वज्जा पण्णत्ता तंजहा-इहलोग-पडिबद्धा; परलोग-पडिबद्धा दुहओ पडिबद्धा ॥

तिविहा पव्वज्जा पण्णत्ता तंजहा-पुरओ पडिबद्धा, मग्गओ पडिबद्धा, दुहओ पडिबद्धा ॥

तिविहा पव्वज्जा पण्णत्ता तंजहा-तुयावइत्ता, पुयावइत्ता, बुयावइत्ता ॥

तिविहा पव्वज्जा पण्णत्ता तंजहा-उवायपव्वज्जा अक्खायपव्वज्जा, संगारपव्वज्जा ॥

—ठाणांगसूत्र ठाणा ३

अर्थ-१ गृहस्थाश्राम छोड़कर साधु बनने को प्रव्रज्या कहते हैं तीन प्रकार की प्रव्रज्जा (दीक्षा) कही गई है। यथा-(१) इहलोक प्रतिबद्धा अर्थात् इस लोक के सुख के लिये प्रव्रज्या लेना। (२) परलोक प्रतिबद्धा—परलोक में देवादि के काम भोगों की प्राप्ति के लिए प्रव्रज्या लेना। (३) उभय प्रतिबद्धा—इस लोक और परलोक दोनों लोकों के सुख की प्राप्ति के लिए दीक्षा लेना सो उभय प्रतिबद्धा प्रव्रज्या कहलाती है।

२-तीन प्रकार की प्रव्रज्या कही गई है। यथा-(१) पुरतः प्रतिबद्धा-दीक्षा लेकर शिष्यादि के मोह में बँधा रहना। (२) मागतः प्रतिबद्धा-दीक्षा लेकर अपने पूर्व कुटुम्बी जन आदि के मोह में बँधा रहना। (३) उभय प्रतिबद्धा-शिष्य, कुटुम्बी जन आदि के मोह में बँधे रहना तो उभय प्रतिबद्धा (उभयतः प्रतिबद्धा) प्रव्रज्या कहलाती है।

३-तीन प्रकार की प्रव्रज्या कही गई है। यथा-(१)तुयावइत्ता (तोदयित्वा)-किसी को शारीरिक एवं मानसिक पीड़ा उत्पन्न करके दीक्षा ग्रहण करवाना। जैसे मेतार्य को देव ने पीड़ा उत्पन्न करके दीक्षा ग्रहण करवाई थी तथा सागरचन्द्र ने मुनिचन्द्र पुत्र को दीक्षा ग्रहण करवाई थी। (२) पुयावइत्ता (प्लावयित्वा)-किसी को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर दीक्षा देना। जैसे कि आर्यरक्षित को दी गई। (३) बुयावइत्ता (उक्त्वा-संभाष्य)-किसी के साथ बातचीत करके फिर उसको दीक्षा देना। जैसे कि गौतम स्वामी ने एक किसान को दी थी।

(४)-तीन प्रकार की प्रव्रज्या कही गई है। यथा-(१) अव-पात प्रव्रज्या-'दीक्षा लेकर मैं गुरुमहाराज की सेवा करूँगा' इस विचार से दीक्षा लेना। (२) आख्यात प्रव्रज्या-धर्मदेशना देकर फिर दीक्षा लेना। जैसे कि फल्गुरक्षित ने अपने-कुटुम्बीजनों को धर्मदेशना देकर फिर दीक्षा ली थी। अथवा-गुरु महाराज द्वारा दी हुई धर्मदेशना सुन कर दीक्षा लेना। (३) संकेत प्रव्रज्या-पहले किये हुए संकेत के अनुसार दीक्षा लेना। अथवा 'यदि तुम दीक्षा लोगे तो मैं भी दीक्षा लूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके दीक्षा लेना संकेत प्रव्रज्या है।

(१) चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता तंजहा-इहलोग पडिबद्धा परलोगपडिबद्धा उभयपडिबद्धा, अप्पडिबद्धा।

(२) चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता तंजहा- पुरओ पडिबद्धा मग्गओ पडिबद्धा दुहओ पडिबद्धा अप्पडिबद्धा।

(३) चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता तंजहा—ओवाय पव्वज्जा अक्खाय पव्वज्जा संगार पव्वज्जा विहगगइ पव्वज्जा।

(४) चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता तंजहा-तुयावइत्ता पुयावइत्ता मोयावइत्ता परिपूयावइत्ता।

(५) चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता तंजहा-णडक्खइत्ता भडक्खइत्ता सीहक्खइत्ता सीयालक्खइत्ता॥

—ठाणांगसूत्र ठाणा ४

अर्थ—१ चार प्रकार की प्रव्रज्या (दीक्षा) कही गई है। यथा-(१) इहलोक प्रतिबद्धा-इस लोक में अपना पेट भरने के लिए जो दीक्षा ली जाय। (२) परलोक प्रतिबद्धा-दूसरे जन्म में भोगादि की प्राप्ति के लिए ली जाने वाली प्रव्रज्या। (३) उभयलोक प्रतिबद्धा इस लोक और परलोक दोनों लोकों में उपर्युक्त दोनों प्रयोजनों के के लिए ली जाने वाली प्रव्रज्या। (४) अप्रतिबद्धा इस लोक और परलोक दोनों लोकों में किसी भी प्रकार के सांसारिक कामभोगों की प्राप्ति की आशा से रहित केवल मोक्ष प्राप्ति के लिए ली जाने वाली प्रव्रज्या।

२—चार प्रकार की प्रव्रज्या कही गई है। यथा-(१) पुरतः प्रतिबद्धा-दीक्षा लेकर शिष्य, तथा आहार आदि में स्नेह भाव रखना। (२) मार्गतः प्रतिबद्धा-दीक्षा लेकर कुटुम्ब आदि में स्नेह

भाव रखना। (३) द्विधा प्रतिबद्धा (उभय प्रतिबद्धा)-दीक्षा लेकर शिष्य आहार आदि में तथा कुटुम्ब आदि में दोनों में स्नेह भाव रखना। (४) अप्रतिबद्धा-किसी में स्नेह भाव न रखते हुए केवल मोक्ष का लक्ष्य रखना।

३—चार प्रकार की प्रव्रज्या कही गई हैं। यथा-(१) अवपात प्रव्रज्या-गुरु महाराज की सेवा करने के लिए दीक्षा लेना। (२) आख्यात प्रव्रज्या-किसी के कहने से दीक्षा लेना, जैसे आर्यरक्षित स्वामी के कहने से उनके भाई फल्गुरक्षित ने दीक्षा ले ली थी। (३) संगार प्रव्रज्या (संकेत प्रव्रज्या)-पूर्व संकेत के अनुसार दीक्षा लेना। जैसे कि-मेतार्य स्वामी ने ली थी। मेतार्य स्वामी का जीव और उनके पूर्व भव के मित्र का जीव, ये दोनों जब देवलोक में थे तब उन्होंने आपस में ऐसी प्रतिज्ञा की थी कि-अपन दोनों में से जो पहले चवे, उसको दूसरा जाकर प्रतिबोध देवे। मेतार्यस्वामी का जीव पहले चव कर मनुष्य गति में आया। तब उनके मित्र देव ने आकर उन्हें प्रतिबोध दिया था। इससे उन्होंने संसार छोड़कर दीक्षा ले ली। (४) विहगगति प्रव्रज्या-जैसे परिवार आदि से हीन हो जाने पर अकेला रहा हुआ पक्षी देशान्तर में चला जाता है, उसी तरह जो पुरुष परिवार आदि से रहित हो जाने पर, परदेश में आकर दीक्षा ग्रहण करे उसे विहगगति प्रव्रज्या कहते हैं।

४-चार प्रकार की प्रव्रज्या कही गई है। यथा-(१) तुयावइत्ता (तोदयित्वा-तोदं कृत्वा)-पीड़ा उत्पन्न करके जो दीक्षा दी जाय, जैसे कि सागरचन्द्र ने मुनिचन्द्र के पुत्र को दीक्षा दी थी। (२) *पुयावइत्ता (प्लावयित्वा)-दूसरे स्थान पर लेजाकर दीक्षा

*"पुयावइत्ता' के स्थान पर बुयावइत्ता (भ्रूत्वा-संभाष्य)' ऐसा पाठान्तर है। उसका अर्थ यह है कि उसके साथ सम्भाषण करके दीक्षा देना, जैसे कि-गौतमस्वामी ने एक किसान को दीक्षा दी थी।

देना, जैसे कि आर्यरक्षित को दी गई थी। अथवा दोषों की शुद्धि करके दीक्षा देना। (३) मोयावइत्ता (मोचयित्वा)-दासपना आदि की पराधीनता से छुड़ा कर दीक्षा देना, जैसे कि-एक मुनि ने तैल के लिए दासी बनी हुई अपनी बहिन को दासपने से छुड़ा कर दीक्षा दी थी। (४) परिपुयावइत्ता (परिप्लुतयित्वा)-भोजन घी आदि का लालच बता कर जो दीक्षा दी जाय। जैसे कि सुहस्ती स्वामी ने एक भिखारी को दीक्षा दी थी।

५—चार प्रकार की प्रव्रज्या कही गई है। यथा (१)-नट खादिता-दीक्षा धारण करके नट की तरह वैराग्यरहित कथा करके भिक्षा ग्रहण करना। (२) भट खादिता-योद्धा की तरह बल दिखला कर भिक्षा ग्रहण करना। (३) सिंहखादिता-सिंह की तरह पराक्रम एवं भय बतला कर भिक्षा ग्रहण करना। (४) शृगाल-खादिता-शृगाल की तरह दीनता प्रकट करके भिक्षा ग्रहण करना
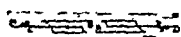
४-निर्ग्रन्थों के भेद-

तओ णियंठा णोसण्णोवउत्ता पण्णत्ता तंजहा—पुलाए, णियंठे, सिणाए।

तओ णियंठा सण्णाणोसण्णोवउत्ता पण्णत्ता तंजहा—बउसे, पडिसेवणाकुसीले, कसायकुसीले।

—ठाणांगसूत्र ठाणा ३

अर्थ—तीन निर्ग्रन्थ नोसंज्ञोपयुक्त होते हैं। यथा—पुलाक निर्ग्रन्थ, स्नातक।

तीन निर्ग्रन्थ संज्ञानोसंज्ञोपयुक्त होते हैं। यथा—बकुश, प्रतिसेवना कुशील और कषायकुशील।

कइ णं भंते ! संजया पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंच संजया पण्णत्ता तंजहा-सामाइयसंजए छेओवट्ठावणियसंजए, परिहारविसुद्धियसंजए, सुहुमसंपराय संजए, अहक्खायसंजए ॥

सामाइयसंजए णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तंजहा--इत्तरिए य आवकहिए य।

छेओवट्ठावणियसंजए णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?

गोयमा! दुविहे पण्णत्ते तंजहा-साइयारे य णिरइयारे य।

परिहारविसुद्धियसंजए णं भंते! कइविहे पण्णत्ते?

गोयमा! दुविहे पण्णत्ते तंजहा-णिविट्ठसमाणए य णिविट्ठकाइए य।

सुहुमसंपरायसंजए णं भंते! कइविहे पण्णत्ते?

गोयमा! दुविहे पण्णत्ते तंजहा-संकिलिस्समाणए य विसुद्धमाणए य।

अहक्खायसंजए णं भंते! कइविहे पण्णत्ते!

गोयमा! दुविहे पण्णत्ते तंजहा छउमत्थे य केवली य।

सामाइयम्मि उ कए, चाउज्जामं अणुत्तरं धम्मं।
तिविहेणं फासयंतो, सामाइयसंजओ स खलु॥
छेत्तूण उ परियागं, पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं।
धम्मम्मि पंचजामे, छेओवट्ठावणो स खलु॥
परिहरइ जो विसुद्धं तु, पंचजामं अणुत्तरं धम्मं।
तिविहेणं फासयंतो, परिहारियसंजओ स खलु॥
लोभमणुवेययंतो जो खलु उवसामओ व खवओ वा।
सो सुहुमसंपराओ, अहक्खाया ऊणओ किंचि॥
उवसंते खीणम्मि व जो खलु कम्मम्मि मोहणिज्जम्मि।
छउमत्थो व जिणो वा, अहक्खाओ संजओ स खलु॥

—भगवती श० २५/७

गौतम स्वामी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से विनयपूर्वक पूछते हैं कि (१) अहो भगवन् ! संयत कितने कहे गये हैं ?

उत्तर—हे गौतम ! संयत पाँच प्रकार के कहे गये हैं। यथा-समायिक संयत, छेदोपस्थापनीय संयत परिहार-विशुद्धि संयत, सूक्ष्म सम्पराय संयत, और यथाख्यात संयत।

(२) अहो भगवन् ! सामायिक संयत कितने प्रकार का कहा गया है ?

उत्तर—हे गौतम ! सामायिक संयत दो प्रकार का कहा गया है। यथा-इत्वरिक (अल्पकालीन) और यावत्कथिक (जीवन-पर्यन्त)।

(३) अहो भगवन् ! छेदोपस्थानीय संयत कितने प्रकार का कहा गया है ?

उत्तर—हे गौतम ! छेदोपस्थापनीय संयत दो प्रकार का कहा गया है। यथा-सातिचार (सदोष) और निरतिचार (निर्दोष)।

(४) अहो भगवन् ! परिहार विशुद्धि संयत कितने प्रकार का कहा गया है ?

उत्तर—हे गौतम ! परिहारविशुद्धि संयत दो प्रकार का कहा गया है। यथा-निर्विशमानक और निर्विष्टकायिक।

(५) अहो भगवन् ! सूक्ष्मसम्पराय संयत कितने प्रकार का कहा गया है ?

उत्तर—हे गौतम ! सूक्ष्म सम्पराय संयत दो प्रकार का कहा गया है। यथा-संक्लिश्यमान और विशुद्धयमान।

सामायिक के दो भेद हैं–इत्वरकालिक सामायिक और यावत्कथिक सामायिक।

इत्वर कालिक सामायिक—इत्वरकाल का अर्थ है-अल्पकाल अर्थात् भविष्य में दूसरी बार फिर सामायिक व्रत का आरोपण होने से जो अल्प काल की सामायिक हो उसे इत्वरकालिक सामायिक कहते हैं। प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् के तीर्थ में जब तक शिष्य में महाव्रतों का आरोपण नहीं किया जाता है तब तक उस शिष्य के इत्वर कालिक सामायिक समझनी चाहिये।

यावत्कथिक सामायिक-यावज्जीवन की सामायिक को यावत्कथिक सामायिक कहते हैं। प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् के साधुओं के सिवाय शेष बाईस तीर्थङ्कर भगवान् और महाविदेह क्षेत्र के तीर्थङ्करों के साधुओं के यावत्कथिक सामायिक होती है। क्योंकि इन तीर्थङ्करों के शिष्यों को दूसरी बार सामायिक व्रत नहीं दिया जाता है।

२—छेदोपस्थापनीय चारित्र (क) जिस चारित्र में पूर्व पर्याय का छेद एवं महाव्रतों में उपस्थापन-आरोपण होता है उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं।

(ख) पूर्व पर्याय का छेद करके जो महाव्रत दिये जाते हैं, उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं।

यह चारित्र भरतक्षेत्र और ऐरवत क्षेत्र के प्रथम और चरम तीर्थंकरों के तीर्थ में ही होता है, शेष तीर्थंकरों के तीर्थ में नहीं होता है।

छेदोपस्थापनीय चारित्र के दो भेद हैं-निरतिचार छेदोपस्थापनीय और सातिचार छेदोपस्थापनीय।

निरतिचार छेदोपस्थापनीय-इत्वर सामायिक वाले शिष्य के एवं एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में जाने वाले साधुओं के जो महाव्रतों का आरोपण होता है, वह निरतिचार छेदोपस्थानीय चारित्र है।

सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र-मूल गुणों का घात करने वाले साधु के जो पुनः महाव्रतों का आरोपण होता है, वह सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र है।

३ परिहार विशुद्धि चारित्र (क) जिस चारित्र में परिहार तप विशेष से कर्मनिर्जरा रूप शुद्धि होती है उसे परिहार विशुद्धि चारित्र कहते हैं।

(ख) जिस चारित्र में अनेषणीयादि का परित्याग विशेष रूप से शुध्द होता है, वह परिहार विशुद्धि चारित्र है।

स्वयं तीर्थङ्कर भगवान के समीप, या तीर्थङ्कर भगवान् के समीप रहकर पहले जिसने परिहार विशुद्धि चारित्र अङ्गीकार किया है उसके पास यह चारित्र अङ्गीकार किया जाता है, नौ साधुओं का गण परिहार तप अङ्गीकार करता है, इनमें से चार तप करते हैं, उन्हें पारिहारिक कहते हैं। चार वैयावृत्य (वैयावच्च) करते हैं उन्हें आनु पारिहारिक कहते हैं और एक कल्पस्थित अर्थात गुरु रूप में रहता है, जिसके पास पारिहारिक और आनुपारिहारिक साधु आलोचना, वन्दना, प्रत्याख्यान आदि करते हैं, पारिहारिक साधु ग्रीष्म ऋतु में जघन्य एक उपवास, मध्यम वेला और उत्कृष्ट तेला (तीन उपवास) तप करते हैं। शिशिर काल (शीत ऋतु) में जघन्य वेला, मध्यम तेला और उत्कृष्ट चौला (चार उपवास) तप करते हैं। वर्षाकाल में जघन्य तेला, मध्यम चौला और उत्कृष्ट पचौला (पाँच उपवास) तप करते हैं। शेष चार आनुपारिहारिक और एक कल्प स्थित (गुरु रूप में स्थित) ये पाँचों साधु प्रायः नित्य

चारित्र का पालन करने वाले संयत सामायिक संयत कहलाते हैं। इसी प्रकार छेदोपस्थापनीय, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म सम्पराय और यथाख्यात चारित्र का पालन करने वाले क्रमशः छेदोपस्थापनीय संयत, परिहार विशुद्धि संयत, सूक्ष्म सम्पराय संयत और यथाख्यात संयत कहलाते हैं, इनके भेद प्रभेद और अर्थ ऊपर बता दिये गये हैं।

चत्तारि णिग्गंथा पण्णत्ता तंजहा रायणिए समणे णिग्गंथे महाकम्मे महाकिरिए अणायावी असमिए धम्मस्स अणाराहए भवइ। रायणिए समणे णिग्गंथे अप्पकम्मे अप्पकिरिए आयावी समिए धम्मस्स आराहए भवइ। ओमरायणिए समणे णिग्गंथे महाकम्मे महाकिरिए अणायावी असमिए धम्मस्स अणाराहए भवइ। ओम रायणिए समणे णिग्गंथे अप्पकम्मे अप्पकिरिए आयावी समिए धम्मस्स आराहए भवइ। चत्तारि णिग्गंथीओ पण्णत्ताओ एवं चेव।

अर्थ-चार प्रकार के निर्ग्रन्थ कहे गये हैं यथा-१ कोई एक रत्नाधिक यानी दीक्षा पर्याय में बड़ा श्रमण निर्ग्रन्थ महाकर्मा या लम्बी स्थिति के कर्म बाँधने वाला, महाक्रिय अर्थात प्रमाद आदि महाक्रिया करने वाला अनातापी यानी आतापना आदि न लेने वाला और असमित यानी सामिति आदि से रहित होता है वह धर्म का आराधक नहीं होता है।

जो रत्नाधिक यानी दीक्षा पर्याय में बड़ा श्रमण निर्ग्रन्थ अल्प कर्मों वाला अल्प क्रिया वाला, आतापना लेने वाला और

समिति आदि से युक्त होता है। ऐसा मुनि धर्म का आराधक होता है।

कोई एक अवमरात्निक यानी दीक्षा पर्याय में छोटा श्रमण निर्ग्रन्थ महाकर्मा यानी लम्बी स्थिति के कर्म बाँधने वाला, महा-क्रिया वाला अनातापी यानी आतापना न लेने वाला और समिति आदि से रहित होता है। ऐसा मुनि धर्म का आराधक नहीं होता है।

कोई एक अवमरात्निक अर्थात् दीक्षा पर्याय में छोटा श्रमण निर्ग्रन्थ अल्प कर्म वाला, अल्प क्रिया वाला, आतापना लेने वाला और समिति आदि से युक्त होता है। ऐसा मुनि धर्म का आराधक होता है।

जिस तरह चार प्रकार के साधु कहे गये हैं उसी तरह साध्वियाँ भी चार प्रकार की कही गई हैं।

प्रश्न—रात्निक किसे कहते हैं ?

उत्तर-रत्नानि भावतो ज्ञानादीनि तैर्व्यवहरतीति रात्निकः।

अर्थात्—रत्न दो प्रकार के होते हैं-द्रव्य रत्न और भाव रत्न। हीरा पन्ना आदि द्रव्य रत्न हैं और सम्यग् ज्ञान दर्शन चारित्र भाव रत्न हैं। यहाँ पर द्रव्य रत्नों से नहीं, भाव रत्नों से प्रयोजन है। सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय के स्वामी को रात्निक कहते हैं।

प्रश्न—अवमरात्निक किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यक् चारित्र रूप रत्न त्रय की अपेक्षा छोटा हो उसको 'अवम रात्निक, कहते हैं।

प्रश्न—महाकर्मा किसे कहते हैं।

उत्तर—जो कर्म लम्बी स्थिति वाले हैं ऐसे कर्मों को बाँधने वाला व्यक्ति महाकर्मा कहलाता है।

प्रश्न—'महाक्रिय' किसे कहते हैं ?

उत्तर—कर्म बन्ध के हेतुभूत कायिकी आदि क्रियाएँ जिसकी महान् हैं उसको महाक्रिय कहते हैं।

प्रश्न—आराधक किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा की यथावत् आराधना करता है (पालन करता है) उसको आराधक कहते हैं।

पंच णियंठा पण्णत्ता तंजहा--पुलाए बउसे कुसील- णिग्गंथे सिणाए। पुलाए पंचविहे पण्णत्ते तंजहा-णाण पुलाए दंसणपुलाए चरित्तपुलाए लिंगपुलाए अहासुहुम- पुलाए णामं पंचमे।

बउसे पंचविहे पण्णत्ते तंजहा-आभोग बउसे अणाभोग बउसे संवुड बउसे असंवुड बउसे अहासुहुमबउसे णामं पंचमे।

कुसीले पंचविहे पण्णत्ते तंजहा-णाणकुसीले दंसण- कुसीले चरित्तकुसीले लिंगकुसीले अहासुहुमकुसीले णामं पंचमे।

णिग्गंथे (णियंटे) पंचविहे पण्णत्ते तंजहा-पढमसमय

णियंठे, अपढमसमय-णियंठे, चरिमसमय-णियंठे, अचरिम-समय-णियंठे, अहासुहुम-णियंठे ।

सिणाए पंचविहे पण्णत्ते तंजहा-अच्छवी, असबले, अकम्मंसे, संसुद्धणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली, अपरिस्सावी ॥

—ठाणांग सूत्र ठाणा ५

अर्थ—"निर्गतः सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थादिति निर्ग्रन्थः" अर्थात् ग्रन्थ दो प्रकार का है-बाह्य और आभ्यन्तर । धर्मोपकरण के सिवाय शेष धन धान्यादि बाह्य ग्रन्थ है। मिथ्यात्व आदि आभ्यन्तर ग्रन्थ है । इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थ से जो मुक्त है वह निर्ग्रन्थ कहा जाता है । निर्ग्रन्थ के पांच भेद हैं-पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, स्नातक ।

(१) पुलाक—दाने से रहित धान्य की भूसी को पुलाक कहते हैं । वह निस्सार होती है । तप और श्रुत के प्रभाव से प्राप्त, संघादि के प्रयोजन से बल (सेना) वाहन सहित चक्रवर्ती आदि के मान को मर्दन करने वाली लब्धि के प्रयोग से और ज्ञानादि के अतिचारों के सेवन से संयम को पुलाक की तरह निस्सार करने वाला साधु पुलाक कहा जाता है । पुलाक के दो भेद होते हैं लब्धिपुलाक और प्रतिसेवापुलाक । लब्धि का प्रयोग करने वाला साधु लब्धिपुलाक है । ज्ञानादि के अतिचारों का सेवन करने वाला साधु प्रतिसेवापुलाक है । प्रतिसेवापुलाक के पांच भेद हैं—ज्ञान-पुलाक, दर्शन पुलाक, चारित्रपुलाक, लिङ्ग-पुलाक और यथासूक्ष्म पुलाक ।

(३) संवृत बकुश-छिप कर शरीर और उपकरण को विभूषा करके दोष सेवन करने वाला साधु संवृत बकुश है।

(४) असंवृत बकुश—प्रकट रूप में शरीर और उपकरण की विभूषा करके चारित्र में दोष लगाने वाला साधु असंवृत बकुश है।

(५) यथासूक्ष्म बकुश—उत्तरगुणों में प्रकट रूप से या अप्रकटरूप से कुछ प्रमाद करने वाला, आँख का मैल आदि दूर करने वाला साधु यथासूक्ष्म बकुश कहा जाता है।

कुशील—मूल गुणों में तथा उत्तर गुणों में दोष लगाने से तथा संज्वलन कषाय के उदय से चारित्र में दोष लगाने वाला साधु कुशील कहा जाता है। कुशील के दो भेद हैं—प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील।

प्रतिसेवना कुशील—चारित्र के प्रति अभिमुख होते हुए भी अजितेन्द्रिय एवं किसी तरह पिण्ड विशुद्धि, समिति, भावना तप, पडिमा आदि उत्तर गुणों की तथा मूलगुणों की विराधना करने से सर्वज्ञ की आज्ञा का उल्लंघन करने वाला प्रतिसेवना कुशील है।

कषाय कुशील—संज्वलन कषाय के उदय से सकषाय चारित्र वाला साधु कषाय कुशील कहा जाता है।

प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील इन दोनों के पाँच-पाँच भेद हैं। इनमें से प्रतिसेवना कुशील के पाँच भेद इस प्रकार हैं--

ज्ञान कुशील, दर्शन कुशील, चारित्र कुशील, लिङ्ग कुशील और यथासूक्ष्म कुशील। (१-४) ज्ञान, दर्शन, चारित्र और

लिङ्ग से आजीविका करके इनमें दोष लगाने वाले साधु क्रमशः प्रतिसेवना की अपेक्षा ज्ञानकुशील, दर्शन कुशील, चारित्र कुशील और लिङ्ग कुशील हैं।

(५) यथासूक्ष्म कुशील—'यह तपस्वी है' इत्यादि प्रकार की प्रशंसा से हर्षित होने वाला प्रतिसेवना की अपेक्षा यथासूक्ष्म कुशील है।

कषाय कुशील के भी ये ही पाँच भेद हैं। उनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) ज्ञानकुशील—संज्वलन क्रोधादि पूर्वक विद्यादि ज्ञान का प्रयोग करने वाला साधु ज्ञानकुशील है।

(२) दर्शनकुशील—संज्वलन क्रोधादि पूर्वक दर्शन (दर्शन ग्रन्थ) का प्रयोग करने वाला साधु दर्शनकुशील है।

(३) चारित्र कुशील—संज्वलन कषाय के आवेश में किसी को शाप (श्राप) देने वाला साधु चारित्र कुशील है।

(४) लिङ्गकुशील—संज्वलन कषायवश अन्य लिङ्ग धारण करने वाला साधु लिङ्ग कुशील है।

(५) यथासूक्ष्मकुशील—मन से संज्वलन कषाय करने वाला साधु यथासूक्ष्म कुशील है।

अथवा

संज्वलन कषाय सहित होकर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और लिङ्ग की विराधना करने वाले साधु क्रमशः ज्ञानकुशील, दर्शन-कुशील, चारित्र कुशील और लिङ्ग कुशील हैं। एवं मन से संज्वलन कषाय करने वाला यथासूक्ष्म कषायकुशील है।

लिङ्ग कुशील के स्थान में कहीं कहीं 'त ।कुशील' भी है।

(४) निर्ग्रन्थ—यहाँ पर ग्रन्थ का अर्थ मोह है। मोह से रहित साधु निर्ग्रन्थ कहलाता है। निर्ग्रन्थ के दो भेद हैं-उपशान्तमोह निर्ग्रन्थ और क्षीण मोह निर्ग्रन्थ।

दूसरी अपेक्षा से निर्ग्रन्थ के पाँच भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—प्रथम समय निर्ग्रन्थ, अप्रथम समय निर्ग्रन्थ, चरम समय निर्ग्रन्थ अचरम समय निर्ग्रन्थ, यथासूक्ष्म निर्ग्रन्थ।

(१) प्रथम समय निर्ग्रन्थ—अन्त मुहूर्त्त प्रमाण निर्ग्रन्थ काल की समय राशि में से प्रथम समय में वर्तमान साधु प्रथम समय निर्ग्रन्थ है।

(२) अप्रथम समय निग्रन्थ—प्रथम समय को छोड़कर शेष समयों में वर्तमान साधु अप्रथम समय निर्ग्रन्थ है।

ये दोनों भेद पूर्वानुपूर्वी की अपेक्षा है।

(३) चरम समय निर्ग्रन्थ—अन्तिम समय में वर्तमान साधु चरम समय निर्ग्रन्थ है।

(४) अचरम समय निर्ग्रन्थ—अन्तिम समय के सिवाय शेष समयों में वर्तमान साधु अचरम समय निग्रन्थ है।

ये दो भेद पश्चादानुपूर्वी की अपेक्षा है।

(५) यथा सूक्ष्म निर्ग्रन्थ—प्रथम समय आदि की अपेक्षा किये बिना सामान्य रूप से सभी समयों में वर्तमान साधु यथा सूक्ष्म निर्ग्रन्थ कहा जाता है।

(५) स्नातक—शुक्ल ध्यान द्वारा सम्पूर्ण घाती कर्मों के समूह को क्षय करके जो शुद्ध हुए हैं वे स्नातक कहलाते हैं। स्नातक के दो भेद हैं—सयोगी केवली और अयोगी केवली।

दूसरी अपेक्षा से स्नातक के पाँच भेद भी हैं वे इस प्रकार हैं—अच्छवि, अशबल, अकर्मांश, संशुद्ध ज्ञान दर्शनधारी अरिहन्त जिन केवली, अपरिस्रावी।

(१) अच्छवि—स्नातक काययोग का निरोध करने से छवि अर्थात शरीर रहित होता है अथवा व्यथा (पीड़ा) नहीं देने वाला होता है।

(२) अशबल—स्नातक निरतिचार शुद्ध चारित्र का पालता है। इसलिए वह अशबल (दोष रहित) होता है।

(३) अकर्मांश—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, इन चारों घाती कर्मों का सर्वथा क्षय कर डालने से स्नातक 'अकर्मांश' कहलाता है।

(४) संशुद्ध ज्ञानदर्शनधारी अरिहन्त जिन केवली-मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान इन चार ज्ञानों से तथा चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन, और अवधि दर्शन इन तीनों दर्शनों से रहित होने के कारण शुद्ध ज्ञान और दर्शन के धारक होने से स्नातक संशुद्ध ज्ञान दर्शनधारी होता है। वह समस्त संसार के पूज्य होने से 'अरिहन्त', कषायों के विजेता होने से 'जिन' और परिपूर्ण ज्ञान दर्शन चारित्र के स्वामी होने से 'केवली' हैं।

(५) अपरिस्रावी—सम्पूर्ण काययोग का निरोध कर लेने पर स्नातक निष्क्रिय हो जाता है और कर्म प्रवाह रुक जाता है। इसलिए वह अपरिस्रावी होता है।

—ठाणांग ५ उद्देशक ३ टीका

गुरुओं के पाँच भेद बताते हुए कहा है:—

पंच मुंडा पण्णत्ता तंजहा-सोइंदिय-मुंडे चक्खुइंदिय-मुंडे, घाणेंदिय-मुंडे, रसेंदिय (जिब्भिंदिय)-मुंडे, फासिंदिय-मुंडे।

अहवा पंच मुंडा पण्णत्ता तंजहा-कोहमुंडे, माण-मुंडे, मायामुंडे, लोभमुंडे, सिरमुंडे, ॥

—ठाणांगसूत्र ठाणा

अर्थ—संस्कृत में 'मुण्ड' धातु अपनयन अर्थ में आती है अपनयन का अर्थ होता है दूर करना, छोड़ना, हटाना। इसलि मुण्ड का अर्थ हुआ जो त्याग करे अर्थात् त्याग करने वाले मुण्ड कहते हैं। इसके-दो तरह से पाँच-पाँच भेद किये गये हैं—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय मुण्ड-श्रोत्रेन्द्रिय के विषयों में आसक्ति का त्याग करने वाला।

(२) चक्षुइन्द्रिय मुण्ड-चक्षुइन्द्रिय के विषयों में आसक्ति का त्याग करने वाला।

(३) घ्राणेन्द्रिय मुण्ड—घ्राणेन्द्रिय के विषयों में आसक्ति का त्याग करने वाला।

(४) रसनेन्द्रिय मुण्ड-रसनेन्द्रिय के विषयों में आसक्ति का त्याग करने वाला।

(५) स्पर्शनेन्द्रिय मुण्ड—स्पर्शनेन्द्रिय के विषयों में आसक्ति का त्याग करने वाला।

× × ×

(१) क्रोधमुण्ड—क्रोध को छोड़ने वाला।

(२) मानमुण्ड—मान का त्याग करने वाला।

(३) माया मुण्ड—माया को छोड़ने वाला।

(४) लोभ मुण्ड—लोभ का त्याग करने वाला।

(५) सिर मुण्ड—शिर (मस्तक) मुंडाने वाला अर्थात दीक्षा लेने वाला।

इन दस मुण्डनों में से पहले के नौ मुण्डन भाव मुण्डन हैं और दसवाँ शिर मुण्डन द्रव्य मुण्डन है। भाव मुण्डन के होने पर द्रव्य मुण्डन (शिर मुण्डन) सार्थक होता है।

संयत, असंयत आदि चार भेद और स्थिति का उल्लेख करते हुए कहा है:—

चउव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तंजहा-संजया असंजया संजयासंजया नोसंजया-नोअसंजया नोसंजयासंजया।

संजए णं भंते ! कालओ केवच्चिरं होइ ?

जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी।

असंजया जहा अण्णाणी। संजयासंजए जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी। नोसंजय नोअसंजय नोसंजयासंजए साइए अपज्जवसिए।

संजयस्स संजयासंजयस्स दोण्ह वि अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं। असंजयस्स

आदिदुवे णत्थि अंतरं, साइयस्स सपज्जवसियस्स जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी। चउत्थगस्स णत्थि अंतरं।

अप्पाबहुत्तं—सव्वत्थोवा संजया, संजयासंजया असंखेज्जगुणा। नोसंजय नोअसंजय नोसंजयासंजया अणंतगुणा, असंजया अणंतगुणा॥

—जीवाजीवाभिगम ६

अर्थ—सब जीव चार प्रकार के कहे गये हैं। यथा-संयत, असंयत, संयतासंयत, नोसंयतनोअसंयतनोसंयतासंयत।

महाव्रतों के धारक एवं सर्व विरति रूप चारित्र को अङ्गीकार करने वाले संयत कहे जाते हैं। छठे गुणस्थान से लेकर चौदह गुणस्थान तक के सब जीव संयत कहे जाते हैं।

असंयत—जिन जीवों को किसी प्रकार का त्याग प्रत्याख्यान नहीं होता है वे पहले गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थान तक के सब जीव असंयत कहे जाते हैं।

संयतासंयत—अणुव्रतों के धारक एवं देशविरति रूप चारित्र को अङ्गीकार करने वाले पञ्चम गुणस्थानवर्ती जीव संयतासंयत कहे जाते हैं। इन्हें श्रावक अथवा श्रमणोपासक कहते हैं।

नोसंयत नोअसंयत नोसंयतासंयत—

जो जीव न संयत हैं, न असंयत हैं और न संयतासंयत हैं ऐसे जीव नोसंयत नोअसंयत नोसंयतासंयत कहे जाते हैं। ऐसे सिद्ध भगवान को नोसंयत नोअसंयत नोसंयतासंयत कहते हैं।

सादि सपर्यवसित असंयत—जो सर्व विरति चारित्र से या देश विरति चारित्र से गिर गया हो और निश्चित रूप से असंयतपने का अन्त करने वाला हो उसे सादि सपर्यवसित असंयत कहते हैं, क्योंकि जो सर्वविरति चारित्र से या देश विरति चारित्र से गिर कर असंयम में आया है, वह जीव अर्द्ध पुद्गल परावर्तन के अन्दर-अन्दर आयुष्य का अन्त कर देगा अर्थात संयम प्राप्त करके मोक्ष चला जायगा।

जब वह सर्व विरति चारित्र से या देश विरति चारित्र से गिर कर असंयम में आया तब उस असंयम की आदि (शुरुआत प्रारम्भ) हुई और जब वापिस संयम में जायगा तब उस असंयम का अन्त हो जायगा। अतः उसे सादि सपर्यवसित असंयत कहते हैं।

इन तीनों प्रकार के असंयतों में से अनादि अपर्यवसित असंयत और अनादि सपर्यवसित असंयत की कायस्थिति यहां है, इससे पृथक् इन की कायस्थिति नहीं है। असंयत का तीसरा भेद जो कि सादि सपर्यवसित है उसकी जघन्य कायस्थिति अन्तमुहूर्त है और उत्कृष्ट अनन्त काल है अर्थात काल की अपेक्षा अनन्त उत्सर्पिणी अवसर्पिणी है और क्षेत्र की अपेक्षा देशोन अर्द्धपुद्गल परावर्तन है।

संयतासंयत की कायस्थिति जघन्य से अन्तमुहूर्त है क्योंकि अन्तर्मुहूर्त के बाद में वह संयत बन जाय अथवा असंयत बन जाय। इसकी उत्कृष्ट स्थिति देशोन (कुछ कम) पूर्वकोटि क्योंकि पूर्वकोटि तक की आयु वालों को ही संयतासंयतपना प्राप्त हो सकता है, इससे अधिक आयु वालों को नहीं। वह भी बाल्य-काल में प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि बचपन से निवृत्त होकर कुछ

समझशक्ति आने पर ही संयतासंयतपना (श्रावक धर्म) स्वीकार किया जा सकता है। अतः इसकी उत्कृष्ट स्थिति देशोन पूर्वकोटि की बतलाई गई है।

नोसंयत नोअसंयत नोसंयतासंयत अर्थात् सिद्ध भगवान की स्थिति सादि अपर्यवसित है। अमुक जीव सकल कर्मों का क्षय करके सिद्ध हुआ। इस अपेक्षा से सिद्ध भगवान सादि (आदि-शुरु आत सहित) हैं, मोक्ष में वे सदा शाश्वत रहते हैं वहाँ से कभी भी चलते नहीं। इसलिए वे अपर्यवसित (अन्त रहित) हैं।

(२) अब इनका अन्तर (व्यवधान) बतलाया जाता है—

संयत का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त है; क्यों कि यदि कोई संयत (संयमी) संयतपने से गिर जाय तो अंतर्मुहूर्त में वह पुनः संयतपने को प्राप्त कर सकता है। इसका उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल है अर्थात् काल की अपेक्षा अनन्त उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल है और क्षेत्र की अपेक्षा देशोन अर्द्ध पुद्गल परावर्तन है। क्यों कि जिसने एक बार संयम स्वीकार किया है उसको अधिक से अधिक देशोन अर्धपुद्गल परावर्त्तन के बाद संयम प्राप्त होता है।

असंयत का अन्तर—ऊपर असंयत के तीन भेद बताये जा चुके हैं। उन तीनों में से अनादि अपर्यवसित असंयत का अन्तर नहीं है, क्योंकि वह अनादि काल से असंयत है और आगे भी कभी भी उसका असंयतपना छूटेगा नहीं, इसलिए उसका अन्तर क्या पड़ सकता है अर्थात् अन्तर नहीं पड़ता है।

अनादि सपर्यवसित असंयत का भी अन्तर नहीं है क्योंकि अनादि कालीन असंयतपने को छोड़कर उसने संयम अङ्गीकार किया है और वह पुनः असंयतपने को प्राप्त नहीं करेगा, अपितु इसी भव में मोक्ष चला जायगा। इसलिए उसका अन्तर नहीं होता है।

एकपएणेगाइं पयाइं जो पसरइ उ सम्मत्तं ।
उदए व्व तेल बिंदू, सो बीयरुइत्ति णायव्वो ॥७॥
सो होइ अभिगमरुई, सुयणाणं जेण अत्थओ दिट्ठं ।
इक्कारस अंगाइं पइण्णगं दिट्ठिवाओ य ॥८॥
दव्वाण सव्वभावा, सव्वपमाणेहि जस्स उवलद्धा ।
सव्वाहिं णयविहिहिं, वित्थाररुइत्ति णायव्वो ॥९॥
दंसणणाणचरित्ते, तवविणएसव्वसमिइगुत्तीसु ।
जो किरियाभावरुई, सो खलु किरियारुई णाम ॥१०॥
अणभिग्गहिय कुदिट्ठी, संखेवरुइत्ति होइ णायव्वो ।
अविसारओ पवयणे, अणभिग्गहियो य सेसेसु ॥११॥
जो अत्थिकायधम्मं सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च ।
सद्दहइ जिणाभिहियं सो धम्म रुइत्ति णायव्वो ॥१२॥

—पन्नवणा पद १ तथा उत्तराध्ययन अ. २८

अर्थ—अहो भगवन् ! सराग दर्शनार्य के कितने भेद हैं ?

हे गौतम ! सराग दर्शनार्य के दस भेद हैं—(१) निसर्ग रुचि, (२) उपदेश रुचि (३) आज्ञा रुचि, (४) सूत्र रुचि (५) बीज रुचि (६) अभिगम रुचि (७) विस्तार रुचि (८) क्रिया रुचि (९) संक्षेप रुचि और (१०) धर्म रुचि ।

१—जीवादि तत्त्वों पर जातिस्मरण आदि ज्ञान द्वारा जानकर श्रद्धा करना निसर्ग रुचि सम्यक्त्व है । अर्थात् मिथ्यात्व मोहनीय का क्षयोपशम क्षय या उपशम होने पर गुरु आदि के उपदेश के बिना स्वयमेव जाति स्मरण आदि ज्ञान द्वारा जीवादि

तत्त्वों का स्वरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अथवा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपों द्वारा जान कर उन पर दृढ़ श्रद्धा करना तथा जिनेन्द्र भगवान् द्वारा बताये गये जीवादि तत्त्व ही यथार्थ हैं, सत्य हैं, वैसे ही हैं, इस प्रकार विश्वास होना निसर्ग रुचि है।

२—केवली भगवान् का अथवा छद्मस्थ गुरुओं का उपदेश सुनकर जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धा करना-उपदेश रुचि है।

३—राग, द्वेष मोह तथा अज्ञान से रहित गुरु की आज्ञा से तत्त्वों पर श्रद्धा करनो आज्ञा रुचि है। जिस जीव के मिथ्यात्व और कषायों की मन्दता होती है, उसे आचार्य, गुरु आदि की आज्ञा मात्र से जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धा हो जाती है, इसी को आज्ञा रुचि कहते हैं।

४—अङ्ग प्रविष्ट तथा अङ्ग बाह्य सूत्रों को पढ़कर जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धा करना सूत्र रुचि है।

५—जिस तरह जल पर तेल की बूँद फैल जाती है। एक बीज बोने से सैकड़ों बीजों की प्राप्ति हो जाती है। उसी तरह क्षयोपशम के बल से एक पद, एक हेतु या एक दृष्टान्त से अपने आप बहुत पद, बहुत हेतु और बहुत दृष्टांतों को समझ कर श्रद्धा करना बीज रुचि है।

६—ग्यारहअङ्ग दृष्टिवाद तथा दूसरे सभी सिद्धान्तों को अर्थ सहित पढ़कर श्रद्धा करना अभिगम रुचि है।

७—द्रव्य के सभी भावों को बहुत से प्रमाण तथा नयों द्वारा जानने के बाद श्रद्धा होना विस्तार रुचि है।

८—चारित्र, तप, विनय, पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि क्रियाओं का शुद्ध रूप से पालन करते हुए सम्यक्त्व की प्राप्ति होना क्रियारुचि है।

९—दूसरे मत मतान्तरों का तथा शास्त्रों आदि का ज्ञान न होने पर भी जीवादि पदार्थों में श्रद्धा रखना संक्षेप रुचि है अथवा अधिक पढ़ा लिखा न होने पर भी श्रद्धा का शुद्ध होना संक्षेप रुचि है।

१०—वीतराग द्वारा प्रतिपादित द्रव्य और शास्त्र का ज्ञान होने पर श्रद्धा होना धर्म रुचि है।

६-आचार्य के भेद

चत्तारि आयरिया पण्णत्ता तंजहा—पव्वावणायरिए णाममेगे णो उवट्ठावणायरिए, उवट्ठावणायरिए णाममेगे णो पव्वावणायरिए, एगे पव्वावणायरिए वि उवट्ठावणायरिए वि, एगे णो पव्वावणायरिए णो उवट्ठावणायरिए धम्मायरिए।

चत्तारि आयरिया पण्णत्ता तंजहा—उद्देसणायरिए णाममेगे णो वायणायरिए, वायणायरिए णाममेगे णो उद्देसणायरिए, एगे उद्देसणायरिए वि वायणायरिए वि, एगे णो उद्देसणायरिए णो वायणायरिए धम्मायरिए।

—ठाणांगसूत्र ठाणा ४

अर्थ— चार प्रकार के आचार्य कहे गये हैं। यथा- १ कोई प्रव्राजनाचार्य यानी प्रव्रज्या (दीक्षा) देने वाले आचार्य हैं किन्तु उपस्थापनाचार्य यानी बड़ी दीक्षा देने वाले आचार्य नहीं हैं। कोई एक उपस्थापनाचार्य हैं किन्तु प्रव्राजनाचार्य नहीं हैं। कोई एक प्रव्राजनाचार्य भी हैं और उपस्थापनाचार्य भी हैं। कोई एक प्रव्राजनाचार्य भी नहीं हैं और उपस्थापनाचार्य भी नहीं हैं किन्तु धर्माचार्य अर्थात् प्रतिबोध देने वाले आचार्य हैं।

(२) चार प्रकार के आचार्य कहे गये हैं। यथा-१ कोई एक उद्देशनाचार्य अर्थात् अङ्गादि सूत्र पढ़ाने वाले आचार्य हैं किन्तु

वाचनाचार्य यानी अर्थ पढ़ाने वाले आचार्य नहीं हैं। २-कोई एक वाचनाचार्य हैं किन्तु उद्देशनाचार्य नहीं हैं। ३-कोई उद्देशनाचार्य भी है और वाचनाचार्य भी हैं। ४-कोई एक उद्देशनाचार्य भी नहीं है और वाचनाचार्य भी नहीं है किन्तु धर्माचार्य अर्थात प्रतिबोध देने वाले आचार्य हैं।

७-महाव्रत और भावनाएँ

पंच महव्वया पण्णत्ता तंजहा सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ॥

—समवायांग ५

अर्थ — पाँच महाव्रत कहे गये हैं। यथा सब प्रकार के प्राणातिपात (हिंसा) से निवृत्त होना। सब प्रकार के झूठ से निवृत्त होना। सब प्रकार के अदत्तादान (चोरी) से निवृत्त होना। सब प्रकार के मैथुन से निवृत्त होना। सब प्रकार के परिग्रह से निवृत्त होना।

मुनि के प्रथम महाव्रत की पाँच भावनाएँ विस्तार से बताते हुए कहा गया है:—

तस्स इमा पंच भावणाओ पढमस्स वयस्स होंति—पाणाइवायवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए पढमं ठाणगमणगुणजोगजुंजणजुगंतरनिवाइयाए दिट्ठिए ईरियव्वं कीडपयंगतसथावरदयावरेण निच्चं पुप्फफलतयपवालकंदमूलदगमट्टियबीयहरिय-परिवज्जिएणं सम्मं। एवं खलु सव्वपाणा य हीलियव्वा य गरहियव्वा य हिंसियव्वा य छिंदियव्वा

आहार ग्रहण करके अपने स्थान पर आया हुआ साधु गुरु के पास गमनागमन सम्बन्धी अतिचारों की निवृत्ति के लिये ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करे और उसके पश्चात् आहार-पानी जिस क्रम से लिया है, वह क्रम गुरु महाराज को निवेदन करे एवं लाया हुआ आहार पानी गुरू महाराज को दिखलावे, दिखला कर गुरू महाराज के निकट अथवा गुरु महाराज के द्वारा आदेश दिये हुए गीतार्थ व्यक्ति के पास प्रमाद रहित होकर सावधानी पूर्वक यथोपदेश अर्थात् शास्त्र मर्यादा के अनुसार निरतिचार अनेषणा जनित दोषों की निवृत्ति के लिये फिर प्रतिक्रमण यानी कायोत्सर्ग करे। इसके पश्चात् स्वस्थ चित्त होकर शान्त बैठ जाय और बैठकर एक मुहूर्तमात्र ध्यान करे तथा शुभ योग का आचरण करे एवं पूर्व पठित ज्ञान का चिन्तन मनन और स्वाध्याय करे। इस प्रकार अपने मन को अन्य विषयों में जाने से रोके और उसे श्रुत चारित्र रूप धर्म में स्थापन करे। मन में दुर्भाव न आने दे, उसे शुभ प्रवृत्ति में लगाये, उसमें कलह का प्रवेश न होने दे उसे समाधि में स्थापित करे। मन में धर्म की श्रद्धा, मोक्ष की अभिलाषा और निर्जरा यानी कर्मक्षय की भावना करे। प्रवचन वत्सलता में अपने मन को लगावे और इसके पश्चात् वह मुनि अत्यन्त हर्ष के साथ उठकर यथा रत्नाधिक अर्थात् संयम में अपने से बड़े साधुओं को क्रमानुसार भोजनार्थ आमन्त्रित करे और भाव पूर्वक उन्हें उनकी इच्छानुसार आहार देने के पश्चात् गुरु की आज्ञा पाकर उचित स्थान पर बैठ जाय। फिर मस्तक सहित शरीर को तथा करतल को अच्छी तरह पूंज कर आहार करे। आहार के विषय में मूर्छित न हो, गृद्ध न हो, रस के अनुराग से गृद्ध न हो! आहार को नीरस जानकर उसकी गर्हा (निन्दा) न करे। रस में मन को एकाग्र न करे। भावों को

दूषित न करे, रस में लुब्ध न हो। सिर्फ अपने ही स्वार्थ को लक्ष्य में न रखे, किन्तु परार्थ पर भी ध्यान रखे। आहार करता हुआ वह साधु सुरसुर की तथा चवचव की आवाज न करे, बहुत जल्दी-जल्दी आहार न करे, बहुत धीरे-धीरे विलम्ब पूर्वक भी आहार न करे। आहार करते समय आहार के कण को नीचे नहीं गिरावे। जिस पात्र में वह आहार करता हो उसका मुख सँकड़ा न हो, अन्धकार युक्त न हो तथा जिस स्थान में वह आहार करता हो वह स्थान अन्धकार युक्त न हो, किन्तु प्रकाश युक्त हो। आहार करता हुआ साधु अपने मन-वचन-काया के योगों को यतना पूर्वक अपने वश में रखे अर्थात् किसी भी प्रकार चञ्चलता न करे। आहार को स्वादिष्ट बनाने के लिए किसी अन्य वस्तु का उसमें सम्मिश्रण न करे अर्थात् संयोजना दोष न लगावे तथा इङ्गाल दोष न लगावे अर्थात् अच्छे आहार की सराहना करता हुआ न खावे, धूम दोष न लगावे यानी खराब आहार की निन्दा न करे। जैसे गाड़ी को सुख पूर्वक चलाने के लिए उसके पहियों की धुरा में तैल आदि लगाया जाता है तथा घाव को आराम करने के लिए उस पर लेप लगाया जाता है, उसी प्रकार साधु संयम यात्रा के निर्वाहार्थ, संयम का भार वहन करने को तथा प्राण-धारण करने के लिए आहार करे। इस प्रकार आहार समिति का सम्यक् प्रकार से पालन करने वाले साधु की अन्तरात्मा भावित यानी सुवासित होती है। उसका चारित्र और परिणाम निर्मल, विशुद्ध और अखण्डित होता है, वह अहिंसक होता है तथा वह संयमधारी और मोक्ष का साधक उत्तम साधु है॥ ४॥

अहिंसा व्रत की पाँचवीं भावना आदाननिक्षेप समिति है अर्थात् उपकरणों को यतनापूर्वक लेना और यतनापूर्वक रखना। संयम के उपकरण पीठ, फलक, शय्या, वस्त्र, पात्र, कम्बल, दण्ड,

रजोहरण चोलपट्टा, मुँहपत्ति, पादप्रौंछन आदि वस्तुएँ हैं। इन उपकरणों को संयम की वृद्धि के लिये और वायु, आतप (गर्मी) दंश, मशक और शीत (ठण्ड) का निवारण करने लिए सदा रागद्वेष रहित होकर साधु को धारण करने चाहिएँ। साधु सदा इन उपकरणों की प्रतिलेखना अर्थात् नेत्रों द्वारा निरीक्षण करना प्रस्फोटन यानी झड़काना और रजोहरण के द्वारा प्रमार्जन किया करे। दिन में और रात में सदा काल अप्रमत्त होकर वह साधु वस्त्र पात्र आदि भण्डोपकरणों को ग्रहण करे और रखे। इस प्रकार आदानभण्ड निक्षेपणा - समिति का सम्यक्तया पालन करने से उस साधु की अन्तरात्मा भावित (सुवासित) होती है। उसका चारित्र और परिणाम निर्मल विशुद्ध और अखण्डित होता है। वह अहिंसक होता है। तथा वह संयमधारी और मोक्ष का साधक उत्तम साधु है ॥५
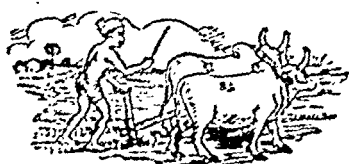
८-ब्रह्मचर्य की गुप्तियाँ

जं विवित्तमणाइण्णं, रहियं इत्थिजणेण य ।
बंभचेरस्स रक्खट्ठा, आलयं तु णिसेवए ॥१॥

मण-पल्हायजणणीं, कामरागविवड्ढणीं ।
बंभचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए । २ ।

समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं ।
बंभचेररओ भिक्खू, णिच्चसो परिवज्जए ॥३॥

अंग--पच्चंग--संठाणं, चारुल्लवियपेहियं ।
बंभचेर-रओ थीणं, चक्खुगिज्झं विवज्जए ॥४॥

कूइयं रुइयं गीयं, हसियं थणिय-कंदियं ।
बंभचेर-रओ थीणं, सोयगिज्झं विवज्जए ॥५॥

हासं किड्डं रइं दप्पं, सहसावित्तासियाणि य ।
बंभचेर-रओ थीणं, णाणुचिंते कयाइ वि । ६॥

पणीयं भत्तपाणं तु खिप्पं मयविवड्ढणं ।
बंभचेर-रओ भिक्खू, णिच्चसो परिवज्जए ॥७॥

धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं ।
णाइमत्तं तु भुंजेज्जा, बंभचेर-रओ सया ॥८॥

ब्रह्मचर्य रत साधु को चाहिये कि स्त्रियों के अङ्ग (मस्तक आदि) तथा प्रत्यङ्ग (कुचादि) को, मनोहर बोलने का ढंग, एवं कटाक्ष पूर्वक देखना, इत्यादि बातें जो कि चक्षु इन्द्रिय के विषय हैं उन्हें वर्जे अर्थात् इन पर दृष्टि पड़ने पर तत्काल दृष्टि को पीछी हटाले, किन्तु रागवश होकर बारबार इनकी तरफ न देखे ॥४॥

ब्रह्मचारी साधु स्त्रियों का कूजित (कोयल के समान मीठा शब्द) रुदित (प्रेम मिश्रित रोना) गीत गायन हसित (हसना) स्तनित (काम विषयक सराग शब्द) क्रन्दित (आक्रन्दन एवं विलाप के शब्द) जो कि श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है, उनको छोड़े। भीत पर्दा आदि के अन्तर से भी स्त्रियों के उपरोक्त शब्दों को न सुने ॥ ५ ॥

ब्रह्मचारी साधु पहले गृहस्थाश्रम में स्त्रियों के साथ किये गये हास्य, क्रीड़ा, रति (विषय सेवन) दर्प (अहंकार) और सहसा त्रास उत्पन्न करने के लिए की गई क्रिया, इत्यादि बातों का कदापि स्मरण न करे, अर्थात् पहले भोगे हुए भोगों को एवं तत्सम्बन्धी कार्यों को भी याद न करें ॥ ६ ॥

ब्रह्मचर्य रत साधु गरिष्ठ आहार पानी का सदा के लिए त्याग करदे क्योंकि गरिष्ठ आहार पानी शीघ्र ही काम विकार को बढ़ाने वाला है ॥ ७ ॥

सदा ब्रह्मचर्य में रत साधु भिक्षा के समय शुद्ध एषणा से प्राप्त हुए आहार को चित्त को स्वस्थ रख कर संयम यात्रा के निर्वाह के लिए परिमित मात्रा में भोगे, किन्तु शास्त्रोक्त परिमाण से अधिक आहार कदापि न करे ॥ ८ ॥

ब्रह्मचर्य में रत साधु शरीर की विभूषा को और शरीर

णव बंभचेरगुत्तीओ पण्णत्ताओ तंजहा—णो विवित्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता भवइ, णो इत्थिसंसत्ताइं णो पसुसंसत्ताइं, णो पंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता भवइ, णो इत्थीणं कहं कहित्ता भवइ, णो इत्थिठाणाइं सेवित्ता भवइ, णो इत्थीणं इंदियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता णिज्झाइत्ता भवइ, णो पणीयरसभोई भवइ, णो पाणभोयणस्स अइमायं आहारए सया भवइ, णो पुव्वरयं पुव्वकीलियं समरित्ता भवइ, णो सद्दाणुवाई णो रूवाणुवाई णो सिलोगाणुवाई भवइ णो सायासोक्खपडिबद्धे या वि भवइ।

—ठाणांगसूत्र ठाणा ९

अर्थ—ब्रह्म (आत्मा) में चर्या अर्थात् लीन होने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। सांसारिक विषयवासनाएँ जीव को आत्मचिन्तन से हटा कर बाह्य विषयों की ओर खींचती हैं उनसे बचने का नाम ब्रह्मचर्य गुप्ति है। अथवा वीर्य के धारण और रक्षण को ब्रह्मचर्य कहते हैं। शारीरिक और आध्यात्मिक सभी शक्तियों का आधार वीर्य है। वीर्यरहित पुरुष लौकिक या आध्यात्मिक किसी भी तरह की सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए नौ बातें आवश्यक हैं। इनके बिना ब्रह्मचर्य का पालन नहीं हो सकता। वे इस प्रकार हैं—

(१) ब्रह्मचारी को स्त्री, पशु और नपुंसकों से रहित स्थान में रहना चाहिये। जिस स्थान में देवी, मानुषी या तिर्यंचनी का वास हो, वहाँ न रहे। इनके पास रहने से विकार होने का डर है।

(२) स्त्रियों की कथावार्ता न करे यानी अमुक स्त्री सुन्दर

१--स्त्रियों की अविश्वसनीयता

मुनि स्त्रियों का विश्वास करे नहीं ! क्योंकिः—

अण्णं मणेण चिंतेंति,
वाया अण्णं च कम्मुणा अण्णं ।
तम्हा ण सद्दहे भिक्खू,
बहुमायाओ इत्थिओ णच्चा ॥१॥

—सूत्रकृतांग अध्य० ४

अर्थ—स्त्रियां मन में कुछ दूसरा ही विचार करती हैं और वचन से वे कुछ और ही कहती हैं एवं काया से वे कुछ और ही कार्य करती हैं। इसलिए स्त्रियां बहुत माया करने वाली होती हैं, ऐसा जानकर मुनि उन पर विश्वास न करे ।

११--आहार का विधान

साधु द्वारा आहार करने के छह कारणों पर प्रकाश डालते हुए कहा है:—

छहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे आहारमाहारमाणे णाइक्कमइ, तंजहा-

वेयण वेयावच्चे, ईरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए ॥

—ठाणांगसूत्र ठाणा ६

अर्थ—साधु को धर्म ध्यान, शास्त्राध्ययन और संयम की रक्षा के लिए ही आहार करना चाहिये। शास्त्रोक्त कारणों के बिना आहार करने वाला साधु ग्रासैषणा के अकारण दोष का भागी होता है। शास्त्रों में मुनि को आहार करने के छह कारण बताये गये हैं। उन छह कारणों से आहार करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है। वे छह कारण ये हैं—

(१) वेदना—क्षुधावेदनीय की शान्ति के लिये।

(२) वैयावृत्य—अपने से बड़े तथा आचार्यादि की सेवा के लिये।

(३) ईर्यापथ—मार्गादि की शुद्धि के लिये।

(४) संयमार्थ—प्रेक्षा आदि संयम की रक्षा के लिये।

(५) प्राण प्रत्ययार्थ—अपने प्राणों की रक्षा के लिये।

(६) धर्म चिन्तार्थ—शास्त्र पठन पाठन आदि धर्म का चिन्तन करने के लिये।

उपर्युक्त छह कारणों से आहार करता हुआ साधु तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है।

साधु द्वारा आहार छोड़ने के छह कारणों पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है:—

छहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे आहारं वोच्छिंदमाणे णाइक्कमइ तंजहा—

आयंके उवसग्गे, तितिक्खणे बंभचेरगुत्तीए।
पाणिदया तवहेउं, सरीरवुच्छेयणट्ठाए ॥

—ठाणांगसूत्र ठाणा ६

अर्थ—छह कारण, उपस्थित होने पर श्रमण निर्ग्रन्थ आहार का त्याग कर देने पर तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है। वे छह कारण ये हैं—

(१) आतङ्क—रोग ग्रस्त होने पर।

(२) उपसर्ग—राजा, स्वजन, देव और तिर्यञ्च आदि का उपसर्ग उपस्थित होने पर।

(३) ब्रह्मचर्य गुप्ति—ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए।

इसी तरह इस लोक में जो द्रव्य-भाव परिग्रह से मुक्त श्रमण-तपस्वी साधु हैं वे फूलों में भ्रमर के समान दाता द्वारा दिये हुए आहार की गवेपणा में रत रहते हैं ॥

आहरंती सिया तत्थ, परिसाडेज्ज भोयणं।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥

अर्थ—आहार पानी देती हुई बाई यदि कदाचित् आहार पानी को गिराती हुई लावे तो देती हुई उस बाई को साधु कहे इस प्रकार का आहार पानी लेना मुझे नहीं कल्पता है।

सम्मद्दमाणी पाणाणि, वीयाणि हरियाणि य।
असंजयकरिं णच्चा, तारिसं परिवज्जए ॥

अर्थ—यदि बेइन्द्रियादि प्राणियों को, बीजों को और हरी वनस्पति आदि को पैरों से कुचलती हुई बाई आहार पानी देवे तो इस प्रकार साधु के लिये अयतना करने वाली जानकर साधु उस आहार पानी को छोड़ दे।

साहट्टु णिक्खिवित्ताणं, सचित्तं घट्टियाणि य।
तहेव समणट्ठाए, उदगं संपणुल्लिया ॥
ओगाहइत्ता चलइत्ता, आहरे पाणभोयणं।
दिंतियं पडियाइक्खे, ण मे कप्पइ तारिसं ॥

अर्थ-इसी प्रकार साधु के लिए सचित्त वस्तु को हटा कर, तथा सचित्त वस्तु पर अचित्त आहारादि को रखकर और सचित्त के साथ संघट्टा करके तथा सचित्त पानी को हिला कर, रुके हुए पानी

को नाली आदि से निकाल कर आहार पानी दे तो देती हुई उस बाई से साधु कहे कि 'इस प्रकार का आहार पानी लेना मुझे नहीं कल्पता ।

पुरेकम्मेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा ।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥

अर्थ-साधु को भिक्षा देने के लिए गृहस्थ यदि सचित्त जल से हाथ को, कुड़छी-चम्मच को या अन्य बरतनों को धोकर उस पुरः-कर्म युक्त हाथ आदि से भिक्षा दे तो साधु उस दाता से कहे कि "ऐसा आहार पानी लेना मुझे नहीं कल्पता है ।"

एवं उदउल्ले ससिणिद्धे, ससरक्खे मट्टियाऊसे ।
हरियाले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे लोणे ॥

अर्थ—भिक्षा देने वाले का हाथ यदि सचित्त पानी से गीला हो या हाथ की रेखाओं में कुछ गीलापन हो तथा दाता का हाथ सचित्त रज (मिट्टी) से अथवा सचित्त ऊपर (खार) से भरा हो या सचित्त हरताल, हिंगलू, मेनसिल अञ्जन, नमक आदि से भरा हो, गेरु, पीली मिट्टी, सफेद मिट्टी, खड़िया मिट्टी, सचित्त फिटकरी, तत्काल पीसा हुआ आटा, अथवा तत्काल कूटे हुए शालिधान्य का पिष्ट, कुक्कुस-तत्काल कूटे हुए धान के तुष जिनमें कि धान के दाने मिले रहने की शङ्का हो, फलादि अर्थात् बड़े फल-पेठा तरबूज आदि के टुकड़े, इन उपरोक्त पदार्थों में से किसी भी पदार्थ से अथवा इसी प्रकार के अन्य सचित्त पदार्थों से हाथ आदि भरे हुए हों, उनसे यदि भिक्षा दे तो वह साधु के लिए अकल्पनीय है । जो कुड़छी आदि शाक आदि से असंसृष्ट हो अर्थात् भरी हुई न हो

और उसमें पश्चात्कर्म की सम्भावना हो ऐसी कुड़छी आदि से दी दाता भिक्षा दे तो वह भी साधु के लिए अकल्पनीय है। अतः साधु उस आहार को ग्रहण न करे।

संसट्ठेण य हत्थेण, दव्वीए भायणेण य।
दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा, जं तत्थेसणियं भवे॥

अर्थ—शाक आदि पदार्थों से भरे हुए हाथ से कुड़छी से अथवा वर्तन से आहारादि दे और वह आहारादि यदि एषणीय-निर्दोष हो तो साधु उस आहारादि को ग्रहण करे।

दुण्हं तु भुंजमाणाणं, एगो तत्थ णिमंतए।
दिज्जमाणं न इच्छिज्जा, छंदं से पडिलेहए॥

अर्थ—गृहस्थ के घर पर दो व्यक्ति भोजन कर रहे हैं उनमें से यदि एक व्यक्ति निमन्त्रण करे अर्थात् साधु को आहारादि देना चाहे तो साधु उस आहारादि की इच्छा न करे अर्थात् उसे ग्रहण न करे किन्तु उस निमन्त्रण न करने वाले दूसरे व्यक्ति की इच्छा को देखे अर्थात यह देना दूसरे को इष्ट है या नहीं? उस इस भाव को उसकी आकृति आदि पर से समझे। यदि उसकी इच्छा न हो तो साधु उस आहारादि को ग्रहण न करे॥

दुण्हं तु भुंजमाणाणं, दो वि तत्थ णिमंतए।
दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा, जं तत्थेसणियं भवे॥

अर्थ—यदि गृहस्थ के घर पर दो व्यक्ति भोजन कर रहे हों और वे दोनों ही निमन्त्रण करें अर्थात् आहारादि देना चाहें एवं आहारादि लेने के लिए मुनि से प्रार्थना करें और यदि दिया जाने वाला आहारादि एषणीय-निर्दोष हो तो साधु उस आहारादि को ग्रहण करे।

गुव्विणीए उवण्णत्थं, विविहं पाणभोयणं ।
भुंजमाणं विवज्जिज्जा, भुत्तसेसं पडिच्छए ॥

अर्थ—गर्भवती स्त्री के लिए अनेक प्रकार की मिठाई आदि खाने पीने की वस्तुएँ बनी हों और वह गर्भवती स्त्री उसे खा रही हो तो साधु उस आहार को ग्रहण नहीं करे किन्तु यदि उसके खा लेने पर बचा हो तो साधु उस बचे हुए आहार में से ले सकता है ।

सिया य समणट्ठाए, गुव्विणि कालमासिणी ।
उट्ठिआ वा णिसिइज्जा, णिसण्णा वा पुणुट्ठए ॥
तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥

अर्थ-यदि कदाचित् आसन्नप्रसवा अर्थात् जिसका प्रसव काल समीप है ऐसी पूर्ण समय वाली गर्भवती स्त्री जो पहले खड़ी हो वह साधु को आहारादि देने के लिए बैठे अथवा पहले से बैठी हुई वह साधु को आहारादि देने के लिए खड़ी होवे तो वह आहार पानी साधु के लिए अकल्पनीय—अग्राह्य होता है, इसलिए इस प्रकार देने वाली उस बाई से साधु कहे कि "इस प्रकार का आहार पानी मुझे नहीं कल्पता है

थणगं पिज्जमाणी, दारगं वा कुमारियं ।
तं णिक्खिवित्तु रोयंतं, आहारे पाणभोयणं ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥

अर्थ—बालक को अथवा बालिका को स्तन पान कराती हुई स्त्री उस बच्चे को नीचे रखे और वह बच्चा रोने लगे उस

समय यदि वह बाई साधु को आहार पानी देने लगे तो वह आहार पानी साधु के लिए अकल्पनीय अग्राह्य होता है। इसलिए उस देने वाली बाई से साधु कहे कि "इस प्रकार का आहार पानी मुझे नहीं कल्पता है।"

जं भवे भत्तपाणं तु, कप्पाकप्पम्मि संकियं।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥

अर्थ—जिस आहार पानी के विषय में इस प्रकार की शङ्का हो कि यह कल्पनीय है या अकल्पनीय है? तो साधु ऐसे शङ्कायुक्त आहार पानी को न ले और दाता से कहे कि "शङ्कित (शंकायुक्त) आहार पानी आदि मुझे नहीं कल्पता है",

दगवारेण पिहियं, नीसाए पीढएण वा।
लोढेण वावि लेवेण, सिलेसेण व केणइ॥
तं च उब्भिदिया दिज्जा, समणट्ठाए व दावए।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥

अर्थ—सचित्त जल के घड़े से, पीसने की चक्की या शिला से, चौकी या बाजोठ से अथवा पत्थर से या इसी तरह के दूसरे किसी पदार्थ से आहार पानी का बरतन ढका हुआ हो अथवा मिट्टी आदि के लेप से, मोम या लाख आदि चिकने पदार्थ से सील (छादण) लगा कर बरतन का मुँह बन्द किया हुआ हो उसे यदि साधु के लिए ही खोल कर दाता स्वयं दे अथवा दूसरे से दिलायें तो दाता से साधु कहे कि—"इस प्रकार का आहार पानी मुझे नहीं कल्पता है"।

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इमं॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥
असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इमं ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥
असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, पुणट्ठा पगडं इमं ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥
असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, वणीमट्ठा पगडं इमं ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥
असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, समणट्ठा पगडं इमं ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाणं अकप्पियं ।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥

अर्थ—जिस अशन, पान, खादिम-(मेवा) स्वादिम-(लौंग सुपारी आदि) के विषय में साधु इस प्रकार जान ले अथवा किसी से सुन ले कि उपर्युक्त आहारादि दानार्थ-(दान के लिए), पुण्यार्थ-(पुण्य के लिए) वनीपकार्थ (याचकों के लिए) अथवा श्रमणार्थ (बौद्ध आदि अन्य मतावलम्बी भिक्षुओं के लिए) बनाया हुआ है तो वह आहारादि साधु के लिए अकल्पनीय- अग्राह्य होता है। इसलिए उस दाता से कहे कि "इस प्रकार का आहारादि मुझे नहीं कल्पता है।"

उद्देसियं कीयगडं, पूइकम्मं च आहडं।
अज्झोयर पामिच्चं च, मीसजायं विवज्जए ॥

अर्थ—* औद्देशिक (जो आहारादि साधु के लिए बनाया हुआ हो) क्रीतकृत (साधु के लिए खरीदा हुआ हो) पूतिकर्म (जिस निर्दोष-शुद्ध आहारादि में आधाकर्म का अंशमात्र भी मिल गया हो) आहृत (जो आहारादि साधु को देने के लिए सामने लाया गया हो) अध्यवपूरक (अपने लिए बनाये जाते हुए आहारादि में साधु के निमित्त से और डाला गया हो) प्रामित्य (जो आहारादि साधु के लिए दूसरे से उधार लिया हुआ हो) मिश्रजात (जो आहारादि अपने लिए और साधु के लिए एक साथ तैयार किया गया) हो तो इन दूषणों से दूषित आहारादि को साधु ग्रहण न करे क्योंकि ऐसा आहारादि साधु के लिए अकल्पनीय होता है ॥

उग्गमं से य पुच्छिज्जा, कस्सट्ठा केण वा कडं।
सुच्चा णिस्संकियं सुद्धं, पडिगाहिज्ज संजए ॥

अर्थ—आहारादि के विषय में शंका हो जाने पर साधु दाता से उस आहारादि की उत्पत्ति के विषय में पूछे कि यह आहारादि किसके लिए बनाया है और किसने बनाया है ? दाता के मुख से उसकी उत्पत्ति को सुनकर यदि वह आहारादि शङ्का रहित एवं औद्देशिक आदि दोषों से रहित हो और शुद्ध हो तो साधु उस आहारादि को ग्रहण कर सकता है, अन्यथा नहीं।

---

* किसी खास साधु के लिये बनाये गये आहार को यदि वही साधु ले तो वह आधाकर्म है और उस आहारादि को दूसरा साधु ले तो वह औद्देशिक है। यह आधाकर्म और औद्देशिक में फर्क है।

सचित्त भाजी, घीया, और शृंङ्गबेर (अदरख) आदि सब प्रकार की सचित्त वनस्पति जिसे अग्नि आदि का शस्त्र न लगा हो, उसे साधु ग्रहण न करे।

तहेव सत्तुचुण्णाइं, कोलचुण्णाइं आवणे।
सक्कुलिं फाणिअं पूअं, अण्णं वा वि तहाविहं॥
विक्कायमाणं पसढं, रएण परिफासियं।
दितियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥

अर्थ—जिस प्रकार सचित्त कन्द आदि साधु के लिए अग्राह्य हैं उसी प्रकार बाजार में दूकान पर बेचने के लिए खुले रूप से रखे हुए सचित्तरज से युक्त जौ आदि के सत्तु का चूर्ण, बोर का चूर्ण, तिल-पापड़ी, गीला गुड़, मालपूआ तथा इसी प्रकार के और भी पदार्थों को दाता साधु को देने लगे तो साधु उस दाता से कहे कि-"इस प्रकार का आहारादि मुझे नहीं कल्पता है।"

बहु अट्ठियं पुग्गलं, अणिमिसं वा बहुकंटयं।
अत्थियं तिंदुयं बिल्लं, उच्छुखंडं व सिंबलिं॥
अप्पे सिया भोयणजाए, बहु उज्झिय धम्मियं।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥

अर्थ—बहुअस्थिक-बहुत बीजों वाला फल जैसे-सीताफल आदि, पुद्गल वृक्ष का फल, अनिमिष (अनानास वृक्ष का फल) बहुकण्टक (बहुत कांटों वाला फल जैसे पनस कटहल आदि) इस तरह व्याख्या करने से ये चार पद अलग-अलग हैं। कहीं कहीं 'बहुअट्ठियं और बहुकंटयं' इन दो पदों को विशेषण रखा है। तब ऐसा अर्थ किया है-बहुत बीजों वाले फल का गिर-गूदा,

भी इच्छा न करे तो फिर वचन और काया की तो बात ही क्या है ? अर्थात् मन वचन काया से रात्रि भोजन की इच्छा तक न करे।

तित्तगं व कडुअं व कसायं,
अंबिलं व महुरं लवणं वा।
एयलद्ध मण्णत्थ पउत्तं,
महुघयं व भुंजिज्ज संजए॥ —दशवैका०

अर्थ—किस प्रकार का विचार करते हुए साधु को आहार करना चाहिए ? सो बताया जाता है—

दूसरे के लिए बनाया हुआ, शास्त्रोक्त विधि से मिला हुआ, वह आहार यदि तीखा, कडुवा, कषैला, खट्टा, मीठा अथवा नमकीन चाहे जैसा भी हो, किन्तु साधु उस आहार को मधु (शहद) और घृत (घी) की तरह प्रसन्नतापूर्वक खाये, किन्तु उस आहार और दाता की हीलना न करे॥

अरसं विरसं वा वि, सूइयं वा असूइयं।
उल्लं वा जइ वा सुक्कं, मंथुकुम्मासभोयणं॥
उप्पण्णं नाइहीलिज्जा, अप्पं वा बहुफासुयं।
मुहालद्धं मुहाजीवी, भुंजिज्जा दोसवज्जियं॥
—दशवैकालिक ५

अर्थ—शास्त्रोक्त विधि से प्राप्त हुआ आहार चाहे अरस (रस-रहित) हो अथवा विरस-पुराने चांवल एवं पुराने धान की बनी हुई रोटी आदि हो, बघार-छोंक दिया हुआ शाक हो अथवा

१२-निरवद्य भाषा

मुनि के लिए सावद्य भाषा बोलने का निषेध और निरवद्य भाषा का विधान करते हुए कहा है:—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जहावेगइयाइं रूवाइं पासेज्जा तहा वि ताइं णो एवं वदेज्जा तंजहा—गंडी गंडीत्ति वा, कुट्ठी कुट्ठीत्ति वा जाव महुमेही महुमेहीत्ति वा, हत्थच्छिण्णे हत्थच्छिण्णेत्ति वा पायच्छिण्णे पायच्छिण्णेत्ति वा, णक्कच्छिण्णे णक्कच्छिण्णेत्ति वा कण्णच्छिण्णे कण्णच्छिण्णेत्ति वा उट्ठच्छिण्णे उट्ठच्छिण्णेत्तिवा। जे या वण्णे जहप्पगारा तहप्पगाराहिं भासाहिं बूइया बूइया कुप्पंति माणवा ते यावि तहप्पगाराहिं भासाहिं अभिकंख णो भासिज्जा।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जहावेगइयाइं रूवाइं पासिज्जा तहावि ताइं एवं वदेज्जा ओयंसी ओयंसीत्ति वा तेयंसी तेयंसीत्ति वा वच्चंसी वच्चंसीत्ति वा जसंसी जसंसीत्ति वा अभिरूवं अभिरूवेत्ति वा पडिरूवं पडिरूवेत्ति वा पासादियं पासादियेत्ति वा दरिसणिज्जं दरिसणीएत्ति वा। जे या वण्णे तहप्पगारा एयप्पगाराहि भासाहिं बूइया बूइया णो कुप्पंति माणवा, ते यावि तहप्पगारा एयप्पगाराहिं

'समियाए' अर्थात शान्ति पूर्वक और भाषा समिति पूर्वक बोले।

इस प्रकार इस सूत्र में साधु की भाषा समिति का विवेक बताया गया है।

प्रतिमाधारी मुनि के बोलने योग्य भाषा के भेद बताते हुए कहा गया है:—

पडिमा पडिवण्णस्स णं अणगारस्स कप्पंति चत्तारि भासाओ भासित्तए तंजहा:-जायणी, पुच्छणी, अणुण्णवणी, पुट्ठस्स वागरणी ॥

—ठाणांग सूत्र ठाणा ४

अर्थ—प्रतिमाधारी साधु को चार भाषाएँ बोलना कल्पता है। -यथा—

१ याचनी अर्थात गृहस्थ के घर से आहारादि माँगना। २-पृच्छनी अर्थात गुरु महाराज से सूत्रार्थ पूछना अथवा गृहस्थ आदि से मार्ग आदि के विषय में पूछना। ३-अनुज्ञापनी-अवग्रह अर्थात स्थान आदि की आज्ञा लेना। ४ पृष्ट व्याकरणी-पूछे हुए प्रश्न आदि का उत्तर देना।

प्रश्न—प्रतिमा किसे कहते हैं ?

उत्तर—अभिग्रह अर्थात प्रतिज्ञा विशेष को प्रतिमा कहते हैं। मुनि की बारह पडिमाएँ हैं जिनको भिक्खु पडिमा कहते हैं। एक मास से लेकर सात मास तक सात पडिमाएँ हैं अर्थात सात पडिमाएँ एक एक मास की हैं। आठवीं पडिमा सात दिनरात की है। नवमीं पडिमा सात दिन रात की है और दसवीं पडिमा भी सात दिन रात

की है। ग्यारहवीं पडिमा एक अहोरात्र की है और बारहवीं केवल एक रात्रि की है।

पडिमाधारी मुनि अपने शारीरिक संस्कारों को तथा शरीर ममत्व भाव को छोड़ देता है और दैन्य भाव न दिखाते हुए देव मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करता है। अज्ञात कुल से और थोड़े परिमाण में गोचरी करता है। इत्यादि अनेक नियमों का पालन करता है।
इन बारह भिक्खु पडिमाओं (भिक्षु प्रतिमाओं) का विस्तृत वर्णन दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र में और समवायांगसूत्र में है।

साधु एकान्त पक्ष न कहे-यह इसलिए कहा जा रहा है कि—

कल्लाणे पावए वावि, ववहारो ण विज्जइ।
जं वेरं तं ण जाणंति, समणा बालपंडिया॥

इसलिए बोलते समय ध्यान रखना चाहिये कि:—

असेसं अक्खयं वावि, सव्वदुक्खेति वा पुणो।
वज्झा पाणा ण वज्झत्ति, इइ वायं ण नीसरे॥

—सूत्र० श्रु० २ अ० ५

अर्थ—यह पुरुष एकान्त कल्याणवान् है और यह एकान्त पापी है ऐसा व्यवहार जगत् में नहीं होता है। इस जगत् में कोई पुरुष एकान्त रूप से कल्याण का ही भाजन हो और कोई एकान्त रूप से पापी ही हो, ऐसा नहीं है क्योंकि कोई भी वस्तु एकान्त नहीं है किन्तु सर्वत्र अनेकान्त का सद्भाव है ऐसी दशा में सभी प्राणी कथंचित् कल्याणवान् और कथंचित् पापयुक्त हैं यही बात सत्य माननी चाहिये। तथापि पण्डित-मानी स्यात् सूत्रं [illegible] के अर्थ को पण्डित मानने वाले शाक्य (बौद्ध) आदि एकान्त

अर्थ—बुद्धिमान् साधु सत्य भाषा, असत्य भाषा, मिश्र भाषा और व्यवहार भाषा इन चार प्रकार की भाषाओं के स्वरूप को भली प्रकार जान कर सत्यभाषा और व्यवहारभाषा इन दो भाषाओं का विवेक पूर्वक उपयोग करना सीखे तथा असत्यभाषा और मिश्रभाषा इन दो भाषाओं को सर्वथा नहीं बोले।

जा य सच्चा अवत्तव्वा, सच्चामोसा य जा मुसा।
जा य बुद्धेहिं नाइण्णा, न तं भासिज्ज पण्णवं॥

अर्थ—जो भाषा सत्य तो है किन्तु अप्रिय और अहितकारी होने से बोलने योग्य नहीं है तथा जो भाषा सत्या मृषा-मिश्र है और जो भाषा मृषा (झूठी) है ऐसी भाषाओं को बुद्धिमान साधु न बोले; क्योंकि तीर्थङ्कर भगवान् ने इन भाषाओं को बोलने की आज्ञा नहीं दी है।

असच्चमोसं सच्चं च, अणवज्जमकक्कसं।
समुप्पेहमसंदिद्धं, गिरं भासिज्ज पण्णवं॥

अर्थ—बुद्धिमान् साधु निरवद्य (पाप रहित) अकर्कश (कर्कशता रहित, मधुर) और सन्देह रहित (स्पष्ट) असत्यामृषा (व्यवहार भाषा) और सत्य भाषा को अच्छी तरह विचार कर विवेक पूर्वक बोले।

एयं च अट्ठमण्णं वा, जं तु नामेइ सासयं।
स भासं सच्चमोसं पि, तं पि धीरो विवज्जए॥

अर्थ—सावद्य और कर्कशता युक्त अर्थ को अथवा इसी प्रकार के अन्य अर्थ को प्रतिपादन करने वाली तथा जो भाषा

शाश्वत सुख की विघातक है अर्थात् जिस भाषा के बोलने से मोक्ष प्राप्ति में बाधा पहुँचती है चाहे वह सत्या-मृषा-मिश्र भाषा हो अथवा सत्य भाषा हो उसे सत्य व्रतधारी बुद्धिमान् साधु त्याग दे अर्थात् ऐसी भाषा न बोले।

वितहं पि तहामुत्तिं, जं गिरं भासए नरो।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, किं पुणो जो मुसं वए॥

अर्थ—जो मनुष्य बाह्य वेष के अनुसार अर्थात् स्त्रीवेषधारी पुरुष को स्त्री और पुरुषवेशधारी स्त्री को पुरुष कहने रूप जिस असत्य भाषा को बोलता है इससे वह पुरुष असत्यभाषणरूपी पाप से स्पृष्ट होता है अर्थात् उसे मृषावाद रूप पाप लगता है तो फिर जो व्यक्ति साक्षात् झूठ बोलता है उसका तो कहना ही क्या? अर्थात् उसके तो पापकर्म का बन्ध अवश्य होता है।

तम्हा गच्छामो वक्खामो, अमुगं वा णे भविस्सइ।
अहं वा णं करिस्सामि, एसो वा णं करिस्सइ।
एवमाइ उ जा भासा, एसकालम्मि संकिया।
संपयाईयमट्ठे वा, तं पि धीरो विवज्जए॥

अर्थ—"कल हम यहाँ से अवश्य चले जायेंगे,"। "अमुक बात हम उनसे अवश्य कह देंगे"। "कल हम यहाँ पर अवश्य व्याख्यान देंगे" "हमारा अमुक कार्य अवश्य हो जायगा"। "मैं अमुक कार्य को अवश्य कर दूंगा अथवा यह व्यक्ति इस कार्य को अवश्य कर देगा" इस प्रकार की निश्चय कारिणी भाषा जो कि भविष्यत्काल से सम्बन्धयुक्त हो अथवा इसी प्रकार की जो भाषा वर्तमान और अतीत काल के विषय में संशय युक्त हो उसे बुद्धिमान् साधु त्याग दे अर्थात् उस भाषा को साधु न बोले।

अज्जिए पज्जिए वा वि, अम्मो माउसियत्ति य।
पिउस्सिए भायणिज्जत्ति, धूए णत्तुणियत्ति य ॥
हले हलित्ति अण्णित्ति, भट्टे सामिणि गोमिणि।
होले गोले वसुलित्ति, इत्थियं नेवमालवे ॥

अर्थ—अब स्त्री को नहीं बोलने योग्य वचनों के विषय में कहते हैं-हे आर्यिके! अर्थात् हे दादी अथवा हे नानी! हे प्रार्यिके! अर्थात् हे परदादी अथवा हे परनानी! हे मां! हे मौसी! हे भूआ! हे भानजी! हे पुत्री! हे दोहिती! या पोती! हे हले! हे सखि! अन्ने! हे भट्टे! हे स्वामिनि!-हे ग्वालिन! हे होले! हे गोले -(गोली!) हे वसुले! (हे दुराचारिणी:-इस प्रकार के निन्दित सम्बोधनों से सम्बोधित करके साधु किसी भी स्त्री को न पुकारे।

णामधिज्जेण णं बूआ, इत्थीगुत्तेण वा पुणो।
जहारिहमभिगिज्झ, आलविज्ज लविज्ज वा ॥

अर्थ—यदि किसी कारण से स्त्री को पुकारना पड़े तो उसका जो प्रसिद्ध नाम हो उस नाम से अथवा स्त्री का जो गोत्र हो उस गोत्र से सम्बोधित करके पुकारे और यथायोग्य अवस्था आदि का निर्देश करके एक वार बोले अथवा आवश्यकतानुसार वारवार बोले।

अज्जए पज्जए वा वि, वप्पो चुल्लपिउत्ति य।
माउलो भायणिज्जत्ति, पुत्ते णत्तुणिअत्ति य ॥
हे भो हलित्ति अण्णित्ति, भट्टे सामिअ गोमिअ।
होल गोल वसुलित्ति, पुरिसं नेवमालवे ॥

अर्थ—'ये नदियाँ जल से पूर्ण भरी हुई हैं अतः भुजाओं से तैरने योग्य हैं' इस प्रकार साधु न बोले। 'ये नदियाँ नावों से पार करने योग्य हैं। प्राणी इसके तट पर से ही सुखपूर्वक पानी पी सकते हैं' इस प्रकार भी साधु न बोले।

बहुवाहडा अगाहा, बहुसलिलुप्पिलोदगा।
बहुवित्थडोदगा आवि, एवं भासिज्ज पण्णवं॥

अर्थ—यदि नदी आदि के विषय में बोलना पड़े तो इस प्रकार बोले कि 'ये नदियाँ जल से लबालब भरी हुई हैं अतः ये नदियाँ अगाध जल वाली हैं। इन नदियों का जल तरङ्गों से बहुत उछल रहा है। इन नदियों का जल बहुत विस्तार पूर्वक बह रहा है'। इस प्रकार बुद्धिमान् साधु निरवद्य भाषा बोले।

तहेव सावज्जं जोगं, परस्सट्ठा य णिट्ठियं।
कीरमाणं त्ति वा णच्चा, सावज्जं न लवे मुणी॥

अर्थ—इसी प्रकार दूसरे के लिए भूतकाल में किये गये और वर्तमान काल में किये जाने वाले तथा भविष्यत काल में किये जाने वाले सावद्य (पाप-युक्त) कार्य को जान कर मुनि इसके विषय में 'यह अच्छा है' इस प्रकार के सावद्य वचन न बोले।

सुकडित्ति सुपक्कित्ति, सुछिण्णे सुहडे मडे।
सुणिट्ठिए सुलट्ठित्ति, सावज्जं वज्जए मुणी॥

अर्थ—'सुकृत अर्थात् यह प्रीतिभोज आदि जीमनवार का कार्य अच्छा किया अथवा यह सभाभवन, व्याख्यान भवन आदि अच्छा बनवाया। सुपक्व-शतपाक सहस्रपाक आदि तेल अच्छा पकाया। सुच्छिन्न-यह भयंकर वन काट दिया सो अच्छा किया।

पालन की हुई है, यदि यह दीक्षा ले तो संयम की क्रियाओं का सुन्दर रीति से पालन कर सकती है'। शृङ्गारादि क्रियाओं के विषय में इस प्रकार कहे कि-'ये शृङ्गारादि क्रियाएँ कर्मबन्ध का कारण हैं'। घाव के विषय में 'यह घाव बहुत गहरा है' इत्यादि प्रकार के निरवद्य वचन बोले।

तहेवासंजयं धीरो, आस एहि करेहि वा।
सयं चिट्ठ वयाहीत्ति, नेवं भासिज्ज पण्णवं॥

अर्थ—इसी प्रकार धैर्यशाली, बुद्धिमान् साधु असंयत अर्थात् गृहस्थ आदि को ऐसा न कहे कि "यहाँ बैठो, इधर आओ, यह कार्य करो, यहाँ सो जाओ, यहाँ खड़े रहो, यहाँ से चले जाओ।"

बहवे इमे असाहू, लोए वुच्चंति साहुणो।
न लवे असाहुं साहुत्ति, साहुं साहुत्ति आलवे॥

अर्थ—लोक में बहुत से असाधु भी साधु कहे जाते हैं, किन्तु बुद्धिमान् मुनि असाधु को साधु न कहे किन्तु साधु को ही साधु कहे।

नाणदंसणसंपण्णं, संजमे य तवे रयं।
एवं गुणसमाउत्तं, संजयं साहुमालवे॥

अर्थ—सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन से युक्त, सतरह प्रकार के संयम में और बारह प्रकार के तप में अनुरक्त, इस प्रकार के गुणों से युक्त संयमी पुरुष को ही साधु कहे।

देवाणं मणुयाणं च, तिरियाणं च वुग्गहे।
अमुयाणं जओ होउ, मा वा होउ त्ति नो वए॥

तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघाइणी ।
से कोह लोह भय हास माणवो,
न हासमाणो वि गिरं वइज्जा ॥

अर्थ—इसी प्रकार जो भाषा सावद्य-पाप कर्म का अनुमोदन करने वाली हो, निश्चयकारी हो, परोपघातिनी (प्राणियों का उपघात करने वाली) हो एवं प्राणियों को पीड़ा पहुँचाने वाली हो ऐसी भाषा साधु न बोले तथा साधु क्रोध, लोभ, भय और हास्य के वश होकर तथा हँसी मजाक में भी परपीड़ाकारी वचन न बोले ।

सुवक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी,
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया ।
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए,
सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥

अर्थ—जो मुनि भाषा की शुद्धि अर्थात् भाषा समिति को भली प्रकार जानकर मृषावाद आदि दोष युक्त भाषा को सदा छोड़ देता है और अच्छी तरह सोच विचार कर परिमित और निरवद्य वचन बोलता है वह मुनि सत्पुरुषों के बीच में प्रशंसा प्राप्त करता है ।

भासाइ दोसे य गुणे य जाणिया,
तीसे य दुट्ठे य परिवज्जए सया ।
छसु संजए सामणिए सया जए,
वइज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ॥

"गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे णिट्ठुरवयणमेयं ॥"

"देवा णं भंते ! संजयासंजया त्ति वत्तव्वं सिया ?"

"गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, असब्भूयमेयं देवाणं।"

"से किं खाइणं भंते ! देवा इइ वत्तव्वं सिया ?"

"गोयमा ! देवा णं णोसंजयाइ वत्तव्वं सिया।"

—भगवती ५.४

अर्थ--गौतम स्वामी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दना नमस्कार करके विनय पूर्वक पूछते हैं कि-अहो भगवन ! क्या देवों को संयत कहा जा सकता है ?

उत्तर--"हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है अर्थात देवों को संयत नहीं कहा जा सकता; क्योंकि देवों को संयत कहना अभ्याख्यान है अर्थात उन पर आरोप लगाना है।"

"अहो भगवान् ? क्या देवों को असंयत कहा जा सकता है ?

उत्तर—"हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है अर्थात देवों को असंयत नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यह वचन निष्ठुर अर्थात कठोर है "

"अहो भगवन् ! क्या देवों को संयतासंयत कहा जा सकता है ?

उत्तर—"हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है अर्थात देवों को संयतासंयत नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यह असद्भूत (असत्य) वचन है।

रात्मक उत्तर दिया है' इसका कारण बताते हुए भगवान् ने फरमाया है कि--यह वचन असद्भूत (असत्य) वचन है क्योंकि देशविरति चारित्र को अङ्गीकार करने वाले श्रमणोपासक (श्रावक) संयता-संयत कहलाते हैं। देवों में किसी प्रकार का त्याग प्रत्याख्यान नहीं होता है अतः उन्हें संयतासंयत भी नहीं कहना चाहिये।

चौथे प्रश्न में गौतम स्वामी ने पूछा है कि--अहो भगवन्! जब देवों को संयत भी नहीं कहना चाहिये, असंयत भी नहीं कहना चाहिये और संयतासंयत भी नहीं कहना चाहिये, तो फिर देवों को क्या कहना चाहिये? इसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया है कि-- देवों को 'नोसंयत' कहना चाहिये।

इस पर यह शंका उपस्थित हो सकती है कि--'असंयत' और 'नोसंयत' इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है बल्कि ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। फिर देवों को 'असंयत' न कह कर 'नोसंयत' कहने का क्या आशय है?

इस शंका का समाधान यह है कि--जिस प्रकार 'मृत' और 'दिवंगत' दोनों शब्दों का अर्थ है -मरा हुआ'। ये दोनों शब्द एकार्थक होने पर भी 'मृत' शब्द कठोर लगता है। इसी प्रकार 'असंयत और नोसंयत' ये दोनों शब्द एकार्थक होते हुए भी 'असंयत' शब्द कठोर लगता है। इसलिए देवों को असंयत' नहीं कहना चाहिये किन्तु' नोसंयत कहना चाहिए।

अर्थ—सामने युगमात्र (चार हाथ प्रमाण) पृथ्वी को देखता हुआ मुनि बीज और हरी वनस्पति तथा बेइन्द्रियादिक प्राणी सचित्त जल और सचित्त मिट्टी को वर्जता हुआ अर्थात् इन सचित्त पदार्थों को बचाता हुआ चले ॥

ओवायं विसमं खाणुं, विज्जलं परिवज्जए ।
संकमेण न गच्छिज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥

अर्थात्—यदि दूसरा अच्छा मार्ग हो तो साधु उस मार्ग से न जावे जिसमें अवपात-(खड्डे होने से गिर जाने) की शङ्का हो, जो मार्ग ऊबड़खाबड़ हो-(विकट हो) जो मार्ग काटे हुए धान्य के डंठलों से युक्त हो और जो मार्ग कीचड़ युक्त हो, ऐसे मार्ग को छोड़ दे । तथा कीचड़ आदि के कारण उल्लंघने के लिए जिस मार्ग में ईंट, काष्ठ आदि रखे हुए हों और वे हिलते हों तो ऐसे मार्ग से भी मुनि न जाये ॥

पवडंते व से तत्थ, पक्खलंते व संजए ।
हिंसेज्ज पाणभूयाइं, तसे अदुव थावरे ॥

अर्थ—उपर्युक्त मार्ग में जाने से हानि बतलाई जाती है-उस मार्ग से जाते हुए साधु का यदि पैर फिसल जाय अथवा खड्डे आदि में गिर जाय तो त्रस जीव बेइन्द्रियादिक और स्थावर-पृथ्वीकायादि प्राणियों की हिंसा होती है ॥

तम्हा तेण न गच्छिज्जा, संजए सुसमाहिए ।
सइ अएणेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे ॥

अर्थ—इसलिए सुसमाधिवंत साधु यदि कोई दूसरा अच्छा मार्ग हो तो उस विषम मार्ग से न जाये। यदि कदाचित दूसरा अच्छा मार्ग न हो तो मुनि उसी मार्ग से यतनापूर्वक जाये॥

इंगालं छारियं रासिं, तुसरासिं च गोमयं।
ससरक्खेहिं पाएहिं, संजओ तं नाइक्कमे॥

अर्थ—साधु सचित्त रज से भरे हुए पैरों से कोयलों के ढेर को, राख के ढेर को तुष (भूसे) के ढेर को और गोबर के ढेर को न उल्लंघे, क्योंकि इससे पृथ्वीकाय की विराधना होती है॥

न चरेज्ज वासे वासंते, महियाए वा पडंतिए।
महावाए व वायंते, तिरिच्छसंपाइमेसु वा॥

अर्थ—वर्षा बरसती हो अथवा धूंअहर कुहरा गिरता हो, महावायु (आँधी) चलती हो पतंगिया आदि अनेक प्रकार के जीव इधर उधर पड़ रहे हों अथवा इति रूप में जन्तुओं का अतिसमूह हो। तो ऐसे समय में साधु गोचरी आदि के लिए बाहर न जावे॥

न चरेज्ज वेससामंते, बंभचेरवसाणुए।
बंभयारिस्स दंतस्स, हुज्जा तत्थ विसुत्तिया॥

अर्थ—ब्रह्मचर्य की रक्षा चाहने वाले साधु को वेश्याओं के मोहल्ले में न जाना चाहिए क्योंकि वहाँ जाने से इन्द्रियों को दमन करने वाले ब्रह्मचारी साधु का चित्त चञ्चल हो जाने की संभावना है॥

अणायणे चरंतस्स, संसग्गीए अभिक्खणं।
हुज्ज वयाणं पीला, सामण्णम्मि य संसओ॥

अर्थ—जिस घर में सचित्त फूल, और सचित्त बीज आदि बिखरे हुए हों तथा जो घर तत्काल ही लींपा पोता गया होने से गीला हो ऐसे घर को देख कर साधु छोड़ दे अर्थात ऐसे घर में साधु गोचरी आदि के लिए न जाये ॥

एलगं दारगं साणं, वच्छगं वा वि कोट्ठए ।
उल्लंघिया न पविसे, विउहित्ताण व संजए ॥

अर्थ—जिस घर के दरवाजे पर भेड़ बकरा, बालक, कुत्ता, बछड़ा आदि बैठे हों या खड़े तो उनको हटा कर अथवा उन्हें उल्लंघन कर साधु उस घर में गोचरी आदि के लिए न जाये ॥

असंसत्तं पलोइज्जा, नाइदूरावलोयए ।
उप्फुल्लं न विणिज्झाए, णिअट्टिज्ज अयंपिरो ॥

अर्थ—गोचरी के लिए गया हुआ साधु किसी भी तरफ आसक्ति पूर्वक न देखे, घर के अन्दर दूर तक लम्बी दृष्टि डाल कर भी न देखे तथा टकटकी लगा कर—आँख फाड़ फाड़ कर भी न देखे। यदि वहाँ भिक्षा न मिले तो कुछ भी न बोलता हुआ तथा क्रोध से बड़बड़ाहट न करता हुआ वहाँ से वापिस लौट आवे ॥

अइभूमिं न गच्छेज्जा, गोयरग्गगओ मुनि ।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता, मियं भूमिं परक्कमे ॥

अर्थ—गोचरी के लिए गया हुआ साधु अतिभूमि में अर्थात् गृहस्थ की मर्यादित भूमि से आगे न जाये किन्तु कुल की मर्यादित भूमि को जान कर जिस कुल का जैसा आचार हो वहाँ तक की परिमित भूमि में ही जाये; क्योंकि परिमित-(मर्यादित) भूमि से आगे जाने पर दाता क्रोधित हो सकता है ॥

तत्थेव पडिलेहिज्जा, भूमिभागं वियक्खणो।
सिणाणस्स य वच्चस्स, संलोगं परिवज्जए॥

अर्थ—गोचरी के लिए गया हुआ विचक्षण साधु उस मर्यादित भूमि की प्रतिलेखना करे अर्थात् उस भूमि को अच्छी तरह देख कर खड़ा रहे। वहाँ खड़ा हुआ साधु स्नानघर की तरफ तथा पाखाने की तरफ दृष्टि न डाले॥

दग मट्टिय-आयाणे, बीयाणि हरियाणि य।
परिवज्जंतो चिट्ठिज्जा, सव्विंदियसमाहिए॥

अर्थ—सब इन्द्रियों को वश में रखता हुआ समाधिवान् मुनि सचित्त जल और सचित्त मिट्टी युक्त जगह को, छोड़ कर यतना पूर्वक खड़ा रहे॥

हुज्ज कट्ठं सिलं वावि, इट्टालं वा वि एगया।
ठवियं संकमट्ठाए, तं च होज्ज चलाचलं॥
न तेण भिक्खू गच्छिज्जा, दिट्ठो तत्थ असंजमो।
गंभीरं झुसिरं चेव, सव्विंदिय-समाहिए॥

अर्थ—कभी वर्षा आदि के समय कीचड या पानी आदि के संक्रमण (उल्लंघन) के लिए अर्थात् इस पार से उस पार जाने के लिए लम्बी लकड़ी या बड़ी शिला रखी हो अथवा ईंट आदि जमाये हुए हो और वे सब अस्थिर हों अर्थात् डगमगाते हों तो साधु उस पर पैर रख कर न जाये तथा जो मार्ग गहरा (ऊँडा) होने से प्रकाश रहित हो और जो मार्ग पोला हो उस मार्ग से भी सब इंद्रियों को वश में रखने वाला समाधिवान् साधु न जाये; क्योंकि उस मार्ग से जाने में सर्वज्ञ प्रभु ने असंयम देखा है॥

गुरु महाराज के पास बैठने का ढंग दशवै कालिक सूत्र में यों बताया गया है:—

हत्थं पायं च कायं च, पणिहाय जिइंदिए।
अल्लीणगुत्तो निसिए, सगासे गुरुणो मुणी ॥

अर्थ—जितेन्द्रिय मुनि हाथ, पैर तथा शरीर को जिस प्रकार से गुरु महाराज का अविनय न हो उस तरह से संकोच करके तथा मन वचन काया से सावधान होकर गुरु महाराज के पास बैठे।

न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न य उरुं समासिज्जा, चिट्ठिज्जा गुरुणंतिए ॥

अर्थ—आचार्य महाराज के पसवाड़े की तरफ़ अर्थात शरीर से शरीर लगा कर न बैठे, और न एक दम मुख के नजदीक बैठे, तथा पीठ पीछे भी न बैठे और गुरु महाराज के सामने पैर पर पैर रख कर न बैठे अर्थात अविनय सूचक आसनों से न बैठे।

आयारपण्णत्तिधरं,
दिट्ठिवायमहिज्जगं।
वायविक्खलियं णच्चा,
न तं उवहसे मुणी ॥

—दशवैकालिक अ० ८

अर्थ—आचार प्रज्ञप्तिधर अर्थात आचाराङ्ग, व्याख्या प्रज्ञप्ति जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, आदि के ज्ञाता [किसी टीकाकार ने ऐसा भी अर्थ किया है:—

आचारधर अर्थात् स्त्रीलिङ्ग, पुँलिङ्ग आदि का ज्ञान रखने वाला और आचार प्रज्ञप्तिधर अर्थात् स्त्रीलिङ्ग, पुँलिङ्ग आदि के विशेषणों को अच्छी तरह जानने वाला] दृष्टिवाद का अध्ययन करने वाला एवं व्याकरण के सभी नियमों को जानने वाला मुनि भी यदि कदाचित् बोलते समय वचन से स्खलित हो जाय अर्थात् लिङ्ग आदि की दृष्टि से अशुद्ध शब्द का प्रयोग कर दे तो उनके अशुद्ध वचन को जान कर साधु उनकी हँसी न करे।

णक्खत्तं सुमिणं जोगं, णिमित्तं मंत-भेसजं।
गिहिणो तं न आइक्खे, भूयाहिगरणं पयं॥

—दशवैकालिक अ० ८

अर्थ—नक्षत्र विद्या, स्वप्नविद्या (स्वप्नों शुभाशुभ फल बतलाने वाली विद्या) वशीकरणादि विद्या, भूत भविष्य का फल बतलाने वाली निमित्त विद्या, भूतप्रेत आदि निकालने की मन्त्र विद्या; अतिसार आदि रोगों की औषध बतलाने वाली वैद्यक विद्या आदि विद्याएँ गृहस्थों को न बताये; क्योंकि ये सब प्राणियों के अधिकरण के स्थान हैं अर्थात् इन की प्ररूपणा करने से छह काय जीवों की हिंसा होती है। अतः साधु ऐसी विद्याएँ गृहस्थों को न बताये।

ण य संखयमाहु जीवियं, तह वि य बालजणो पगब्भइ।
बाले पापेहिं मिज्जइ, इइ संखाय मुणी ण मज्जइ॥

—सूयगडांग अ० २

अर्थ—जीवन के रहस्य को जानने वाले तीर्थंकर भगवान् ने फरमाया है कि—काल पर्याय से टूटा हुआ प्राणियों का जीवन फिर जोड़ा नहीं जा सकता। ऐसी दशा में भी अज्ञ प्राणी धृष्टता से पाप करता है और पाप करता हुआ भी लज्जित नहीं होता। वह

पापी' इस नाम से पुकारा जाता है अथवा जैसे धान्य आदि के द्वारा 'भस्थक या कोठा' भर दिया जाता है उसी तरह वह पापों से भर जाता है' यह जान कर पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला मुनि यह मद नहीं करता है कि-इन अनुष्ठान करने वालों में मैं ही उत्तम अनुष्ठान करने वाला हूँ'। क्योंकि 'मैं धर्मात्मा हूँ और अमुक मनुष्य पापी है' ऐसा अभिमान करना भी पाप है। अतः मुनि को अभिमान नहीं करना चाहिये।

१४-ज्ञान की प्रधानता
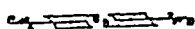
श्री जम्बू स्वामी पूछते हैं कि जबः—

"पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए"।

ऐसा कहा जाता है, तो फिरः—

"अन्नाणी कि काही किं वा नाही सेयपावगं ? ॥

इस प्रश्न के उत्तर में श्री सुधर्मा स्वामी ने कहाः—

"सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयंपि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे" ॥

क्यों ? इस लिए किः—

"जो जीवेवि न याणेइ, अजीवे वि न याणइ।
जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहीइ संजमं" ॥

—दशवैकालिक अध्ययन

अर्थ—यदि जीवों की दया पालने से ही साधुता की सिद्धि हो जाती है तो फिर ज्ञान की क्या आवश्यकता है ? नव दीक्षित शिष्यों के मन में ऐसी शङ्का न होवे, इसके लिए जीव दया रूप क्रिया में ज्ञान की भी आवश्यकता है, इस बात को बताते हुए गुरु महाराज फरमाते हैं कि-पहले ज्ञान है फिर दया है इस प्रकार सब साधु आचरण करते हैं। सम्यग् ज्ञान से रहित अज्ञानी पुरुष क्या करेगा और कैसे पुण्य पाप को समझेगा ?

अब ज्ञान प्राप्ति का उपाय बतलाया जाता है-शास्त्र को सुन कर ही कल्याण रूप दया को जानता है और असंयम रूप पाप को भी सुन कर ही जानता है। इस प्रकार संयम और असंयम दोनों के स्वरूप को सुन कर जाने और जान कर जो श्रेयस्कर (हितकर) हो उसी को ग्रहण करे ॥

जो जीव के स्वरूप को नहीं जानता और अजीव के स्वरूप को भी नहीं जानता। इस प्रकार जीव और अजीव के स्वरूप को नहीं जानने वाला वह साधक संयम को कैसे जानेगा? अर्थात् नहीं जान सकता है ॥
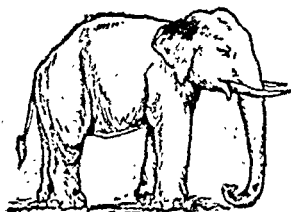
१५–अठारह कल्पस्थान

साधुओं के अठारह कल्पस्थानों में से प्रत्येक का विस्तृत वर्णन दशवैकालिक सूत्र के अनुसार इस प्रकार है:—

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
अहिंसा णिउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो॥

अर्थ—"प्राणिमात्र के प्रति अहिंसा का भाव अनन्त सुखों को देने वाला है" ऐसा श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने केवल-ज्ञान से जाना है। इसलिए भगवान् ने अहिंसा महाव्रत को पहला स्थान बताया है।

जावंति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा।
ते जाणमजाणं वा, न हणे नो वि घायए॥

चौदह राजू परिमाण लोक में जितने त्रस और स्थावर प्राणी हैं उनको जानते अथवा न जानते हुए प्रमादवश स्वयं मारे नहीं, न दूसरों से मरवाये तथा मारने वालों की अनुमोदना भी न करे।

टिप्पणी—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय से व्याप्त संपूर्ण द्रव्यों के आधार रूप चौदह राजू परिमाण आकाश खण्ड को 'लोक' कहते हैं।

लोक का आकार जामा पहन कर कमर पर दोनों हाथ रख कर नाचते हुए (चारों-ओर घूमते हुए) भोपे जैसा है। पैर से

कमर तक का भाग अधोलोक है। उसमें सात नरक हैं। नाभि की जगह मध्यलोक है, उसमें द्वीप समुद्र हैं, मनुष्य और तिर्यंचों की बस्ती है। नाभि के ऊपर का भाग ऊर्ध्वलोक है, उसमें गरदन से नीचे के भाग में बारह देवलोक हैं। गरदन के भाग में नव ग्रैवेयक हैं। मुँह के भाग में पाँच अनुत्तर विमान हैं और मस्तक के भाग में सिद्ध शिला है।

लोक का विस्तार मूल में सात राजू है। ऊपर क्रमशः घटते हुए सात राजू की ऊँचाई पर विस्तार एक राजू का है। फिर क्रमशः बढ़ते हुए साढ़े दस राजू की ऊँचाई पर विस्तार पाँच राजू है। फिर क्रमशः घट कर मूल से चौदह राजू की ऊँचाई पर विस्तार एक राजू का है। अधो और ऊर्ध्व दिशा में ऊँचाई चौदह राजू है।

लोक के तीन भेद हैं-(१) ऊर्ध्वलोक (२) अधोलोक (३) तिर्च्छालोक।

मेरु पर्वत के समतल भूमिभाग के नौ सौ योजन ऊपर ज्योतिष चक्र के ऊपर का सम्पूर्ण लोक ऊर्ध्वलोक है। इसका आकार मृदङ्ग जैसा है। यह कुछ कम सात राजू परिमाण है।

मेरु पर्वत के समतल भूमि भाग के नौ सौ योजना नीचे का लोक अधोलोक है। इसका आकार उल्टा किये हुए शराव (सकोरे) जैसा है। यह कुछ अधिक सात राजू परिमाण है।

ऊर्ध्वलोक और अधोलोक के बीच में अठारह सौ योजन परिमाण तिर्च्छा रहा हुआ लोक तिर्च्छालोक (तिर्यग्लोक) है। इसका आकार झालर या पूर्ण चंद्रमा जैसा है।

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, णिग्गंथा वज्जयंति णं॥

अर्थ—प्राणियों की हिंसा क्यों नही करना चाहिये ? इसके लिए शास्त्रकार फरमाते हैं—

त्रस और स्थावर सभी जीव जीना चाहते हैं किन्तु मरना को नहीं चाहता है। इसलिए छह काय जीवों के रक्षक निर्ग्रंथ मुनि उ महा-भयंकर प्राणिवध रूप जीव हिंसा का सर्वथा त्याग करते हैं

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अण्णं वयावए॥

अर्थ—अब मृषावाद विरमण रूप दूसरे स्थान के विषय कहा जाता है- साधु अपने खुद के लिए अथवा दूसरों के लिए क्र से, मान से, माया से और लोभ से अथवा भय से परपीड़ाका जिससे दूसरों को दुख पहुँचे ऐसा झूठ स्वयं न बोले, दूसरों से न बोलावे, तथा झूठ बोलने वाले का अनुमोदन भी न करे॥

मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए॥

अर्थ—संसार में सब महापुरुषों ने मृषावाद-असत्य भाषण को निन्दित बतलाया है क्योंकि असत्य भाषण सब प्राणियों के लिए अविश्वास का कारण है अर्थात् असत्यवादी का कोई विश्वा नहीं करता। इसलिए साधु मृषावाद का सर्वथा त्याग कर दे।

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहं सि अजाइया॥
तं अप्पणा न गिण्हंति, नो वि गिण्हावए परं।
अण्णं वा गिण्हमाणं पि, नाणुजाणंति संजया॥

ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के वचनों में रत रहने वाले मुनि विडलवण (पकाया हुआ अचित्त लवण) सामुद्रिक लवण, तेल, घी, गुड़ आदि पदार्थों का संग्रह करना नहीं चाहते हैं अर्थात रात्रि में बासी रखना नहीं चाहते हैं।

लोहस्सेस अणुप्फासे, मण्णे अण्णयरामवि।
जे सिया सण्णिहिकामे, गिही पव्वइए न से॥

अर्थ—किसी भी प्रकार के पदार्थों का संग्रह करना, लोभ का अनुस्पर्श-प्रभाव है अतः तीर्थङ्कर देव ऐसा मानते हैं अथवा तीर्थङ्कर देवों ने ऐसा फरमाया है कि यदि कदाचित किसी भी समय जो साधु किञ्चित् मात्र भी संग्रह करने की इच्छा करता है तो वह साधु नहीं है किन्तु भाव से गृहस्थ है।

जं पि वत्थं वा पायं वा, कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य॥

अर्थ—यदि कोई यह शङ्का करे कि साधु वस्त्र पात्र आदि वस्तुएं अपने पास रखते हैं तो क्या ये वस्तुएं संग्रह या परिग्रह नहीं है? इसका समाधान किया जाता है कि-साधु लोग जो वस्त्र पात्र कम्बल पादप्रोंछन रजोहरण आदि शास्त्रोक्त संयम के उपकरण धारण करते हैं और अनासक्त भाव से उनका उपयोग करते हैं, वह केवल संयम की रक्षा के लिए और लज्जा निवारण के लिये ही करते हैं।

न सो परिग्गहो वुत्तो, णायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा॥

टिप्पणी—'एक भक्त' शब्द का अर्थ तो 'एक बार भोजन करना' है आपने 'एक भक्त' 'शब्द का अर्थ सिर्फ दिन में ही आहारादि करना' यह कैसे किया? इस शंका का समाधान यह है:—

'एक भक्त' शब्द का अर्थ 'एक बार भोजन करना भी होता है किन्तु यहाँ यह अर्थ नहीं है क्योंकि शब्द का अर्थ प्रकरण के अनुसार ही किया जाता है। यहाँ पर 'एक बार आहार करना या दो बार आहार करना' यह प्रकरण नहीं चल रहा है किन्तु यहाँ साधु के जो अठारह कल्प बताये जा रहे हैं उनमें से पांच महाव्रत रूपी पांच कल्पों का वर्णन किया जा चुका है। अब छठे कल्प का वर्णन चल रहा है। छठे कल्प का नाम है-'रात्रिभोजन विरमण व्रत'। इस तरह यहाँ रात्रिभोजन के निषेध का वर्णन चल रहा है। अतः यहाँ 'एक भक्त' शब्द का अर्थ यह है कि रात्रिभक्त और दिवसभक्त, इन दोनों में से मुनि सिर्फ एक भक्त अर्थात् दिवसभक्त का ही सेवन करता है और रात्रिभक्त का सर्वथा त्याग कर देता है।

संतिमे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा।
जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणियं चरे॥

अर्थ—अब रात्रिभोजन के दोष बतलाये जाते हैं:-ये प्रत्यक्ष में त्रस और स्थावर बहुत से सूक्ष्म प्राणी हैं जो रात्रि में दिखाई नहीं देते तो उनकी रक्षा करते हुए आहार की शुद्ध एषणा और भोजन करना कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है। इसलिए छहकाय जीवों के रक्षक मुनि रात्रिभोजन नहीं करते।

उदउल्लं बीयसंसत्तं, पाणा निवडिया महिं।
दिया ताइं विवज्जिज्जा, राओ तत्थ कहं चरे॥

अर्थ—रात्रि भोजन में दोष दिखाकर अब रात्रि में आहा-
दे ग्रहण करने में दोष दिखलाये जाते हैं—जमीन पर पड़ा हुआ
ती, सचित्त जल मिश्रित आहार, जमीन पर बिखरे हुए बीज,
चेत्त बीजादि से युक्त आहार और जमीन पर रहे हुए कीड़े
कोड़े आदि प्राणी इन सब को दिन में तो आँखों से देखकर
वायो जा सकता है किन्तु रात्रि में उनकी रक्षा करते हुए कैसे
ला जा सकता है।

एयं च दोसं दट्ठूणं, णायपुत्तेण भासियं ।
सव्वाहारं न भुंजंति, णिग्गंथा राइभोयणं ॥

अर्थ—ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर स्वामी द्वारा
ताये हुए प्राणि-हिंसा रूप दोष को तथा आत्म विराधना आदि
अन्य दोषों को देखकर एवं जानकर निर्ग्रन्थ मुनि सर्वाहार अर्थात्
अशन, पान, खादिम, स्वादिम-इन चार प्रकार के आहारों में से
किसी भी प्रकार के आहार को रात्रि में नहीं खाते हैं और न
रात्रि में ग्रहण ही करते हैं।

पुढविकायं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करण जोएण, संजया सुसमाहिया ॥

अर्थ—अब पृथ्वी कायिक जीवों की रक्षा-रूप सातवें
स्थान का कथन किया जाता है-सुसमाधिवान् साधु मन, वचन
और काया रूप तीन योगों से और करना, कराना, अनुमोदना रूप
तीन करण से पृथ्वीकाय की हिंसा नहीं करते हैं, दूसरो से नहीं
करवाते हैं और करने वालों की अनुमोदना भी नहीं करते हैं ।

पुढविकायं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

इसलिए संयमी मुनि उस अग्नि का, प्रकाश के लिए तथा शीत निवारण आदि कार्यों के लिए किञ्चिन्मात्र भी आरम्भ नहीं करे।

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
तेउकायसमारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥

अर्थ—इसलिए नरकादि दुर्गतियों को बढ़ाने वाले उपर्युक्त दोषों को जानकर साधु अग्निकाय के समारम्भ का यावज्जीवन (जीवन पर्यन्त) त्याग कर दे।

अनिलस्स समारंभं, बुद्धा मण्णंति तारिसं ।
सावज्जबहुलं चेयं, नेयं ताईहिं सेवियं ॥

अर्थ—अब वायुकाय की रक्षा रूप दसवें स्थान का कथन किया जाता है—

तीर्थङ्कर भगवान् वायुकाय के आरम्भ को उसी प्रकार का अर्थात् अग्निकाय के आरम्भ जैसा अत्यन्त पापकारी मानते हैं (केवलज्ञान द्वारा जानते हैं।) इस लिए छह काय जीवों के रक्षक मुनियों को वायुकाय का समारम्भ कदापि नहीं करना चाहिये।

तालियंटेण पत्तेण, साहाविहुयणेण वा ।
न ते वीइउमिच्छंति, वीयावेऊण वा परं ॥

अर्थ—वे छह काय जीवों के रक्षक मुनि ताड़वृक्ष के पंखे से, पत्ते से अथवा वृक्ष की शाखा को हिलाने से अपने ऊपर हवा करना नहीं चाहते हैं तथा दूसरों से हवा करवाना भी नहीं चाहते हैं और हवा करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करते हैं।

जं पि वत्थं वा पायं वा, कंबलं पायपुंछणं ।
न ते वायमुईरंति, जयं परिहरंति य ॥

अर्थ--जो वस्त्र कम्बल, पात्र पादप्रोञ्छन, रजोहरण आदि संयमोपकरण हैं उनसे भी वे वायुकाय की उदीरणा (प्रेरणा) नहीं करते हैं किन्तु यतनापूर्वक धारण करते हैं एवं यतनापूर्वक उठाते और रखते हैं।

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
वायुकाय-समारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥

अर्थ—इसलिए नरकादि दुर्गतियों को बढाने वाले इन दोषों को जानकर साधु वायु काय के समारम्भ का यावज्जीवन के लिए त्याग कर दें।

वणस्सइं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएणं, संजया सुसमाहिया ॥

अर्थ—अब वनस्पति की रक्षा रूप ग्यारहवें स्थान का वर्णन किया जाता है-सुसमाधिवान साधु मन वचन काया रूप तीन योगों से और करना कराना अनुमोदना रूप तीन करण से वनस्पति काय की हिंसा नहीं करते हैं, दूसरों से नहीं करवाते हैं और करने वालों की अनुमोदना भी नहीं करते हैं।

वणस्सइं विहिंसंतो, हिंसइ उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

अर्थ—वनस्पतिकाय की हिंसा करता हुआ प्राणी उसकी

निर्ग्रन्थ मुनि क्रीत औद्देशिक और आहृत आहारादि को ग्रहण नहीं करते हैं।

कंसेसु कंसपाएसु, कुंडमोएसु वा पुणो।
भुंजंतो असण-पाणाइं, आयारा परिभस्सइ॥

अर्थ—अब गृही भाजन त्याग नामक चौदहवें स्थान का वर्णन किया जाता है—जो साधु गृहस्थ की काँसी आदि की कटोरी में अथवा काँसी आदि के थाल में और कुंडमोय (हाथी के पैर जैसा ऊँचा और ऊँडा मिट्टी का कुंडा) में आहार पानी भोगता है वह साधु के आचार से भ्रष्ट हो जाता है।

सीओदगसमारंभे, मत्त-धोयण-छड्डणे।
जाइं छण्णंति भूयाइं, दिट्ठो तत्थ असंजमो॥

अर्थ—जब साधु गृहस्थ के बर्तन को वापरने लग जायगा तो सचित्त जल का आरम्भ होगा अर्थात गृहस्थ उस बर्तन को कच्चे (सचित्त) जल से धोएगा, उसमें अप्काय की विराधना होगी और बर्तनों को धोए हुए पानी को अयतना पूर्वक इधर-उधर डालने से बहुत से जीवों की हिंसा होगी। इसलिए गृहस्थ के बर्तनों को वापरने में तीर्थङ्कर भगवान् ने साधु के लिए असंयम देखा है।

पच्छाकम्मं पुरेकम्मं, सिया तत्थ न कप्पइ।
एयमट्ठं न भुंजंति, णिग्गंथा गिहिभायणे॥

अर्थ—गृहस्थ के बर्तन का सेवन करने से पश्चात्कर्म और पुरःकर्म दोष लगने की सम्भावना रहती है (इसलिए साधु के

गृहस्थ वर्तनों का सेवन करना नहीं कल्पता है) अतः निर्ग्रन्थ मुनि गृहस्थ के बर्तन का सेवन नहीं करते हैं।

टिप्पणी—गृहस्थ यदि साधु को भिक्षा देने के लिए सचित्त जल से हाथ को, कुड़छी, चमच आदि को या अन्य वर्तनों को धोवे तो "पुरःकर्म दोष" है और भिक्षा देने के बाद उस भरे हुए हाथ को, कुड़छी को या अन्य बर्तन आदि को सचित्त जल से धोये तो उसे "पश्चात्कर्म दोष" कहते हैं।

आसंदीपलिअंकेसु, मंचमासालएसु वा।
अणायरियमज्जाणं, आसइत्तु सइत्तु वा॥
नासंदी पलिअंकेसु, न निसिज्जा न पोढए।
निग्गंथा ऽपडिलेहाए, बुद्धवुत्त महिट्ठगा॥
गंभीर विजया एए, पाणा दुप्पडिलेहगा।
आसंदीपलिअंको य, एयमट्ठं विवज्जिया॥

अर्थ--अब पर्यंक त्याग नामक पन्द्रहवाँ स्थान कहा जाता है--बेंत आदि की बनी हुई कुर्सी पर और पलङ्ग पर तथा खाट और आराम कुर्सी पर बैठना और सोना साधुओं के लिए अनाचार रूप है। क्योंकि कुर्सी और पलङ्ग आदि उपर्युक्त आसनों की पडिलेहना होना कठिन है। इसलिए तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा का पालन करने वाले मुनि कुर्सी, पलङ्ग, खाट और आरामकुर्सी आदि पर न बैठे और न सोये।

इनकी पडिलेहना क्यों नहीं हो सकती है? इसका कारण बताया जाता है—कुर्सी, आरामकुर्सी आदि उपर्युक्त आसानों में गम्भीर अर्थात् गहरे ऊँडे छिद्र होते हैं इस लिए बेइन्द्रियादि

अर्थ—इसलिए शुद्ध संयम का पालन करने वाले साधु ठण्डे जल से (सचित्त जल से) अथवा गरम जल से (अचित्त जल से) कभी भी स्नान नहीं करते हैं किन्तु वे जीवनपर्यन्त अस्नान अर्थात स्नान नहीं करने रूप कठिन व्रत का पालन करते हैं।

सिणाणं अदुवा कक्कं, लुद्धं पउमगाणि य।
गायस्सुव्वट्टणट्ठाए, नायरंति कयाइ वि॥

अर्थ—संयमी पुरुष स्नान अथवा कल्कचन्दनादि सुगन्धित द्रव्य लोद और कुंकुम केसर आदि सुगन्धित द्रव्यों का अपने शरीर पर उबटन या लेपन करने के लिए कदापि सेवन नहीं करते हैं।

नगिणस्स वा वि मुंडस्स, दीहरोमनहंसिणो।
मेहुणा उवसंतस्स, किं विभूसाइ कारियं॥

अर्थ—अब शोभावर्जन अर्थात विभूषा त्याग नामक अठारहवां स्थान का कथन किया जाता है-शास्त्र मर्यादानुसार प्रमाणोपेत श्वेत वस्त्र रखने वाला स्थविरकल्पी साधु अथवा सर्वथा नग्न रहने वाला जिनकल्पी साधु, द्रव्य और भाव से मुण्डित, दीर्घ रोम नख वाला जिसके नख और केश और बढे हुए हैं तथा जो मैथुन भाव से उपशान्त है अर्थात् मैथुन का सर्वथा त्यागी है ऐसे साधु को शरीर की शोभा एवं श्रृङ्गार से क्या प्रयोजन है? अर्थात कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

विभूसावत्तियं भिक्खू, कम्मं बंधइ चिक्कणं।
संसारसायरे घोरे, जेणं पडइ दुरुत्तरे॥

अर्थ—शरीर की विभूषा एवं शोभा करने से साधु के चिकने कर्मों का बन्ध होता है जिससे वह जन्म जरा मरण के

भय से भयङ्कर और दुस्तर अर्थात् कठिनता से तैरे जाने वाले संसार सागर में गिर पड़ता है।

विभूसावत्तियं चेयं, बुद्धा मण्णंति तारिसं।
सावज्जबहुलं चेयं, नेयं ताइहिं सेवियं॥

अर्थ—बुद्ध अर्थात् सर्वज्ञ देव तीर्थङ्कर भगवान शरीर की विभूषा सम्बन्धी संकल्प विकल्प करने वाले चित्त को चिकने कर्म बन्ध का कारण और सावद्य बहुल अर्थात् बहुत पापों की उत्पत्ति का हेतु मानते हैं। अतएव छह काय जीवों के रक्षक मुनियों ने इसका कदापि सेवन नहीं किया है। इसलिए तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा के पालक मुनि विभूषा का त्याग कर दें।
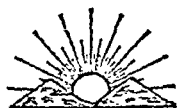
१६—आचार का परिणाम
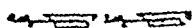
साधु के आचार पालन का फल बताते हुए दशवैका
के आठवें अध्ययन में यों कहा गया है:—

सज्झायसज्झाणरयस्स ताइणो,
अपावभावस्स तवे रयस्स ।
विसुज्झई जं सि मलं पुरेकडं,
समीरियं रुप्पमलं व जोइणा ॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्नि द्वारा तपाये हुए सोने चाँदी का मैल दूर हो जाता है, उसी प्रकार वाचना, पृच्छना परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा इन पाँच प्रकार की स्वाध्याय में तल्लीन, तथा धर्मध्यान शुक्लध्यान में तल्लीन छह काय जीवों के रक्षक, अपापी अर्थात्—प्राणातिपात आदि अठारह पापों के त्यागी, शुद्ध अन्तःकरण वाले, और बाह्याभ्यन्तर रूप बारह प्रकार के तप में रत साधु का पूर्व भव संचित पापरूपी मैल नष्ट हो जाता है।

से तारिसे दुक्खसहे जिइंदिए,
सुएण जुत्ते अममे अकिंचणे ।
विरायई कम्मघणम्मि अवगए,
कसिणब्भपुडावगमे व चंदिमे । ६४॥

१७—अनाचीर्ण

श्रमणों के अनाचीर्ण (अनाचार) बताते हुए दशवैकालिक सूत्र में विस्तार से यों कहा है:—

संजमे सुट्ठिअप्पाणं, विप्पमुक्काण ताईणं।
तेसिमेयमणाइण्णं, निग्गंथाण महेसिणं॥

अर्थ—संयम में सुस्थित (भलीभाँति स्थित) आत्मा वाले, विप्रमुक्त (सांसारिक बन्धनों से रहित) त्राता (छह काय जीवों के रक्षक) उन निर्ग्रन्थ (परिग्रह रहित) महर्षियों के ये आगे कहे जाते वाले अनाचीर्ण (अनाचार) हैं। ये निर्ग्रन्थ महर्षियों के आचरण करने योग्य नहीं हैं॥

उद्देसियं कीयगडं, नियागमभिहडाणि य।
राइभत्ते सिणाणे य, गंधमल्ले य वीयणे॥

अर्थ—१ औद्देशिक—साधु के लिये बनाया गया। २ क्रीतकृत—साधु के लिए खरीदा हुआ। ३ नियाग—गृहस्थ का निमन्त्रण पाकर कभी भी आहारादि लेना तथा प्रति दिन एक ही घर से आहारादि लेना। ४ अभिहृत—साधु के लिए सामने लाये हुए आहारादि को लेना। ५ रात्रिभक्त—रात्रिभोजन करना। ६ स्नान करना। ७ सुगन्धित पदार्थों का सेवन करना। ८ फूलमाला आदि का सेवन करना। ९ वीजन—पंखे आदि से हवा लेना।

टिप्पणी—किसी खास साधु का लक्ष्य करके उसके लिये सचित्त वस्तु को अचित्त करना एवं अचित्त को पकाना आदि प्रारम्भ करना आधाकर्म कहलाता है।

गृहस्थ का निमन्त्रण पाकर कभी भी आहारादि लेना तथा प्रतिदिन एक ही घर से आहारादि लेना नियाग पिण्ड' है।

उपर्युक्त अर्थ एक आधुनिक टीकाकार मुनि कृत दशवैकालिक टीका अध्ययन ३ गाथा २ में किया है। एक अन्य गुजराती मुनि द्वारा कृत दशवैकालिक में भी इसी प्रकार का अर्थ किया है:-

"आमन्त्रण करीने लई जाय, तेनु' अन्न विगेरे रोज लेवु' ते नियाग आमंत्रण विना कोइक दिवसे लेवे नियाग नथी"।

(दशवैका० नियु'क्ति)

एक भाषान्तरकार विद्वान् ने भावनगर से प्रकाशित उत्तराध्ययन में तथा एक जैनाचार्य ने भी उत्तराध्ययन सूत्र के बीसवें अध्ययन की सैंतालीसवीं गाथा में आये हुए 'नियाग' शब्द का अर्थ 'हमेशा एक ही घर का आहार लेना' ऐसा किया है।

पूर्वाचार्यों की मान्यता और प्रवृत्ति भी इस उपर्युक्त अर्थानुसार थी और अब भी कइयों की प्रवृत्ति इसी तरह की है।

शङ्का—'आपने नियाग' शब्द का उपर्युक्त अर्थ बताया, किन्तु एक टीकाकार कहते हैं:—

"नियागमित्यामन्त्रितस्य पिण्डस्य ग्रहणं नित्यं नत्वनामन्त्रितस्य"

दिनान्तर में खाना। इन चारों भाँगों में खाया गया आहारादि रात्रि भोजन अनाचार है।

इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है—

जे चेव रयणिभोयणदोसा, ते चेव संकडमुहम्मि।
जे चेव संकडमुहे, ते दोसा अंधयारम्मि॥
(ओघनिर्युक्ति)

अर्थ—जिसमें जीवादि दिखाई नहीं देते हों ऐसे सँकडे मुँह के पात्र में आहारादि करना रात्रिभोजन अनाचार है। तथा जोरदार आँधी के प्रसङ्ग पर जब जीवादि दिखाई नहीं देते हों ऐसे समय में आहारादि खाना भी रात्रिभोजन अनाचार है। अर्थात जो दोष रात्रिभोजन करने में लगते हैं वे ही दोष सँकड़े मुँह के पात्र में आहारादि करने से लगते हैं और जो दोष सँकड़े मुँह के पात्र में आहारादि करने में लगते हैं वे ही दोष अन्धकार में आहारादि करने से लगते हैं।

स्नान के दो भेद हैं—देशस्नान और सर्व स्नान। हाथ पैर आदि धोना देशस्नान है और सारे शरीर को धोना सर्वस्नान है। दोनों प्रकार के स्नान में से कोई भी स्नान करना अनाचार है। अतः साधु के लिए दोनों प्रकार का स्नान वर्जनीय है।

सण्णिही गिहिमत्ते य, रायपिंडे किमिच्छए।
संबाहणा दंतपहोयणा य, संपुच्छणा देहपलोयणा य॥

अर्थ—१० सन्निधि—घी गुड़ आदि वस्तुओं का सञ्चय करना। ११ गृहस्थ के बर्तन को वापरना। १२ राजपिण्ड अर्थात

करने वाले, बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की ग्रन्थि से रहित निर्ग्रन्थ महर्षि—मुनिराजों के ये पूर्वोक्त बावन अनाचीर्ण (अनाचार) हैं।

दशवैकालिक के शब्दों में श्रमणों के गुणों का वर्णन इस प्रकार है:—

पंचासवपरिण्णाया, तिगुत्ता छसु संजया।
पंचनिग्गहणा धीरा, णिग्गंथा उज्जुदंसिणो॥

अर्थ—पाँच आश्रवों के त्यागी, मन, वचन और काया की गुप्ति से युक्त, छह काय जीवों की रक्षा करने वाले, पाँच इन्द्रियों का निग्रह करने वाले, परीषह-उपसर्गों को सहन करने में धीर और सरल स्वभावी निर्ग्रन्थ होते हैं॥

आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा।
वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया॥

अर्थ—प्रशस्त समाधिवन्त संयमी मुनि ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की आतापना लेते हैं। हेमन्त ऋतु में अर्थात् शीतकाल में अल्प वस्त्र रखते हैं अथवा वस्त्रों को दूर करके शीत (ठण्ड) को सहते हैं और वर्षा ऋतु में प्रतिसंलीन रहते हैं अर्थात् कछुए की तरह इन्द्रियों का गोपन करके रहते हैं॥

परिसहरिउदंता, धूयमोहा जिइंदिया।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो॥

अर्थ—परीषह रूपी शत्रुओं को जीतने वाले, मोह-ममता के त्यागी, पाँच इन्द्रियों को जीतने वाले, अर्थात् वश में रखने

१८ क्रियाएं क्यों लगती है?
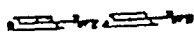
श्रमण निर्ग्रन्थों को क्रियाएँ लगती हैं क्या? क्यों लगती है? आदि का खुलासा करते हुए कहा है:—

"अत्थि णं भंते! समणाणं णिग्गंथाणं किरिया कज्जइ?"

"हंता, अत्थि।"

"कहण्णं भंते! समणाणं णिग्गंथाणं किरिया कज्जइ?"

"मंडियपुत्ता! पमायपच्चया जोगनिमित्तं च, [एवं] खलु समणाणं णिग्गंथाणं किरिया कज्जइ॥"

—भगवतीसूत्र श०

अर्थ—मण्डितपुत्र स्वामी श्रमण भगवान् महावीर स्[वामी] से पूछते हैं कि भगवन्! क्या श्रमण निर्ग्रन्थों को कायिकी [आदि] क्रियाएँ लगती हैं?

उत्तर—हाँ, मण्डितपुत्र! श्रमण निर्ग्रन्थों को भी कायि[की] आदि क्रियाएँ लगती हैं।

यह सुनकर फिर पूछा:—

"अहो भगवन! श्रमण निर्ग्रन्थों को कायिकी आदि क्रिया[एँ] किस प्रकार लगती हैं"?

उत्तर—"हे मण्डितपुत्र ! प्रमाद से अर्थात् शरीरादि की दुष्प्रवृत्ति से तथा योग के निमित्त से अर्थात् मार्ग में हलन चलनादि रूप ईर्यापथिक क्रिया से श्रमण निर्ग्रन्थों को कायिकी आदि क्रियाएँ लगती हैं"।

राइणिए भवइ आसायणा सेहस्स। १२ केइ राइणियस्स पुव्वसंलवित्तए सिया, तं सेहे पुव्वतरागं आलवइ पच्छा राइणिए भवइ आसायणा सेहस्स। १३ सेहे राइणियस्स राओ वा वियाले वा वाहरमाणस्स अज्जो! के सुत्ता के जागरा? तत्थ सेहे जागरमाणे राइणियस्स अपडिसुणित्ता भवइ आसायणा सेहस्स। १४ सेहे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहित्ता तं पुव्वमेव सेहतरागस्स आलोएइ पच्छा राइणियस्स भवइ आसायणा सेहस्स। १५ सेहे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहित्ता तं पुव्वमेव सेहतरागस्स उवदंसेइ पच्छा राइणियस्स भवइ आसायणा सेहस्स। १६-सेहे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहित्ता तं पुव्वमेव सेहतरागं उवणिमंतेइ पच्छा राइणिए भवइ आसायणा सेहस्स। १७-सेहे राइणिएणं सद्धिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहित्ता तं राइणियं अणापुच्छित्ता जस्स जस्स इच्छइ तस्स तस्स खद्धं खद्धं तं दलयइ भवइ आसायणा सेहस्स। १८--सेहे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहित्ता राइणिएणं सद्धिं भुंजमाणे तत्थ सेहे खद्धं खद्धं, डायं डायं, ऊसढं ऊसढं, रसियं रसियं, मणुण्णं मणुण्णं, मणामं मणामं, णिद्धं णिद्धं, लुक्खं लुक्खं, आहारित्ता भवइ आसायणा सेहस्स। १६--सेहे राइणि-

यस्स वाहरमाणस्स अपडिसुणित्ता भवइ आसायणा सेहस्स । २०—सेहे राइणियस्स वाहरमाणस्स तत्थगए चेव पडिसुणित्ता भवइ आसायणा सेहस्स । २१ सेहे राइणियस्स किं त्ति वत्ता भवइ आसायणा सेहस्स । २२ सेहे राइणियं तुमं त्ति वत्ता भवइ आसायणा सेहस्स । २३ सेहे राइणियं खद्धं खद्धं वत्ता भवइ आसायणा सेहस्स । २४ सेहे राइणियं तज्जाएणं तज्जाएणं पडिहणित्ता भवइ आसायणा सेहस्स । २५ सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स इइ एवं वत्ता भवइ आसायणा सेहस्स । २६ सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स णो सुमरसित्ति वत्ता भवइ आसायणा सेहस्स । २७ सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स णो सुमणसे भवइ आसायणा सेहस्स । २८ सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स परिसं भेत्ता भवइ आसायणा सेहस्स । २९ सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स कहं आच्छिदित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ।३० सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स तीसे परिसाए अणुट्ठियाए अभिण्णाए अवुच्छिण्णाए अवोगडाए दोच्चं पि तच्चं पि तं कहं कहित्ता भवइ आसायणा सेहस्स । ३१ सेहे राइणियस्स सिज्जा संथारगं पाएणं संघट्टित्ता हत्थेण अणणुताविता गच्छइ, भवइ आसायणा सेहस्स । ३२ सेहे रायणियस्स सिज्जासंथारए चिट्ठित्ता वा तुयट्टित्ता वा भवइ आसायणा सेहस्स ।३३—सेहे राइणिय-

लाये और बाद में रत्नाधिक को दिखलावे तो शिष्य को आशातना लगती है।

(१६) शिष्य अशन, पान, खादिम, स्वादिम गृहस्थ के घर से लाकर पहले छोटे साधुओं को निमन्त्रित करे और रत्नाधिक को बाद में निमन्त्रित करे तो शिष्य को आशातना लगती है।

(१७) शिष्य रत्नाधिक के साथ अशन पान खादिम स्वादिम गृहस्थ के घर से लाकर रत्नाधिक को पूछे बिना ही दूसरे साधुओं को उनकी इच्छानुसार अशनादि दे देता है तो शिष्य को आशातना लगती है।

(१८) शिष्य अशन पान खादिम स्वादिम गृहस्थ के घर से लाकर रत्नाधिक के साथ आहार करते हुए यदि अपनी रुचि के अनुसार खट्टे रस वाले शाक आदि को, रसादि गुणों से प्रधान सरस, मनोज्ञ, मनोहर—मन को प्रिय लगने वाला घृतादि से स्निग्ध अथवा रूक्ष (स्वादिष्ट लगने वाला पापड़ आदि) पदार्थों को जल्दी जल्दी खाये तो शिष्य को आशातना लगती है।

(१९) यदि रत्नाधिक किसी कार्य के लिये शिष्य को बुलाये किन्तु शिष्य उनके वचनों को सुने अनसुने कर दे तो शिष्य को आशातना लगती है।

(२०) किसी कार्य के लिए रत्नाधिक द्वारा बुलाये जाने पर शिष्य यदि अपने स्थान पर बैठा हुआ ही उनके वचनों को सुने (वहाँ बैठा हुआ ही जवाब दे) किन्तु कार्य करने के भय से उनके पास न जाये तो शिष्य को आशातना लगती है।

(२१) यदि रत्नाधिक शिष्य को बुलाये तो शिष्य को चाहिये कि उनके वचनों को सुन कर विनयपूर्वक उत्तर दे, किन्तु यदि शिष्य 'क्या कहते हो ?' ऐसा कहे तो शिष्य को आशातना लगती है।

(२२) यदि शिष्य रत्नाधिक को 'तू' कहे तो शिष्य को आशातना लगती है।

(२३) यदि शिष्य रत्नाधिक के लिए अत्यन्त कठोर और मर्यादा के उपरांत आवश्यकता से अधिक वचनों का प्रयोग करे तो शिष्य को आशातना लगतां है।

(२४) रत्नाधिक यदि शिष्य को किसी कार्य के लिए प्रेरणा करे तो शिष्य को उनके वचन शिरोधार्य करने चाहिये। किन्तु यदि ऐसा न करते शिष्य उन वचनों को ही उनके प्रति दोहराते हुए उनकी अवहेलना करता है तो शिष्य को आशातना लगती है। जैसे-'हे आर्यो ! तुम ग्लान साधुओं की सेवा क्यों नहीं करते हो ? तुम आलसी हो'। रत्नाधिक के यह कहने पर शिष्य इन्हीं शब्दों को दोहराते हुए उन्हें यह कहे-'तुम स्वयं ग्लान साधुओं की सेवा क्यों नहीं करते ? तुम खुद आलसी हो'। ऐसे कहने से शिष्य को आशातना लगती है।

(२५) रत्नाधिक जब धर्म कथा कह रहे हों तब शिष्य यदि बीच ही में बोल उठे कि 'आप जो बात कह रहे हैं वह इस तरह नहीं है, किन्तु इस तरह है अथवा अमुक पदार्थ का स्वरूप इस प्रकार है' तो शिष्य को आशातना लगती है।

(२६) रत्नाधिक जब धर्मकथा कह रहे हों उस समय यदि शिष्य कहे कि 'आपको याद नहीं है, आप भूल रहे हैं, यह बात इस तरह नहीं है' इत्यादि कहे तो शिष्य को आशातना लगती है।

(२७) जब रत्नाधिक धर्मकथा कह रहे हों उस समय यदि शिष्य प्रसन्नचित्त होकर उनके वचन एकाग्र चित्त से न सुने अपितु दूसरे संकल्प विकल्प करता रहे. कथा में अन्यमनस्क रहे और कथा की सराहना न करे तो शिष्य को आशातना लगती है

(२८) जब रत्नाधिक धर्मकथा कह रहे हों उस समय यदि शिष्य 'अब गोचरी का समय हो गया है, कथा समाप्त होनी चाहिए' इत्यादि कह कर सभा को छिन्न भिन्न करे तो शिष्य को आशातना लगती है।

(२९) जब रत्नाधिक धर्म कथा कह रहे हों उस समय यदि शिष्य किसी उपाय से कथा विच्छेद करे तो शिष्य को आशातना लगती है।

(३०) जब रत्नाधिक धर्मकथा कह रहे हों उस समय जब कि वह सभा उठी न हो, भिन्न न हुई हो अर्थात् लोग गये न हों सभा छिन्न न हुई हो अर्थात् लोग बिखरे न हों, उसी सभा में रत्नाधिक की लघुता और अपना बड़प्पन बताने के लिए यदि शिष्य उसी कथा को दो तीन बार विस्तार पूर्वक कहे तो शिष्य को आशातना लगती है।

(३१) शिष्य के पैर से यदि रत्नाधिक के शय्या संस्तारक बिछौने का स्पर्श हो जाय और शिष्य हाथ जोड़ कर उस अपराध की क्षमा माँगे बिना ही चला जाय तो शिष्य को आशातना लगती है।

(३२) यदि शिष्य रत्नाधिक के शय्यासंस्तारक-बिछौने पर खड़ा रहे, बैठे और सोवे तो शिष्य को आशातना लगती है।

(३३) शिष्य यदि रत्नाधिक से ऊँचे आसन पर अथवा बराबरी के आसन पर खड़ा रहे, बैठे अथवा सोवे तो शिष्य को आशातना लगती है।

प्रश्न—'आशातना' किसे कहते हैं ?

उत्तर—'आशातना' यह शब्द दो शब्दों के मेल से बना हुआ है। यथा-'आ + शातना' जिसका अर्थ होता है-तप संयम

आदि उत्तम क्रियाओं का सब प्रकार से घात करने वाली क्रिया। अथवा 'आशातना' शब्द 'आय + शातना' इन दो शब्दों के मेल से बीच के यकार का लोप होकर बना है। 'आय' का अर्थ है-सम्यग्दर्शनादि का लाभ और 'शातना' का अर्थ है 'खण्डना'। सम्यग्दर्शनादि का घात करने वाली अविनय की क्रियाओं को 'आशातना' कहते हैं।

"एवं धम्मस्स विणओ मूलं"

अर्थात्--धर्म का मूल विनय है'। यह कह कर शास्त्रकारों ने विनय का महत्त्व बतलाते हुए उसकी अनिवाय आवश्यकता भी बतला दी है। क्योंकि धर्म का प्रासाद (महल) विनय की नींव पर खड़ा होता है। इसलिए विनयरहित एवं विघातक क्रियाओं को आशातना (सम्यग् दर्शनादि का नाश करने वाली) कहना ठीक ही है। शास्त्र में ये आशातनाएँ तेतीस प्रकार की बतलाई गई हैं जिनका विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

शैक्ष अर्थात् छोटी दीक्षा वाले साधु को रत्नाधिक (दीक्षा में बड़े) साधु के साथ रहते हुए इन आशातनाओं का त्याग करना चाहिये और रत्नाधिक के प्रति हृदय में बहुमान रखना चाहिये। हृदय में विनय बहुमान न रखते हुए इन आशातनाओं का त्याग करना केवल द्रव्य विनय है। व्यवहारशुद्धि के सिवाय उसकी विशेष सार्थकता नहीं है। रत्नाधिक के प्रति विनय बहुमान रख कर इन आशातनाओं का त्याग करने से विनय और धर्म की यथार्थ आराधना होती है। और मुमुक्षु अपने ध्येय के अधिकाधिक समीप पहुँचता है। तेतीस आशातनाओं में यतना करने का अर्थात् इनका त्याग करने का फल उत्तराध्ययन सूत्र के इकतीसवें अध्ययन में बतलाया है। यथा—

उत्पन्न हो तो धैर्यपूर्वक उसमें मन लगाते हुए अरति को दूर करना चाहिये ८ स्त्री परीषह-स्त्रियों द्वारा होने वाला कष्ट अर्थात् स्त्रियों द्वारा कामसेवन की प्रार्थना की जाने पर भी संयम से विचलित न होना। ६ चर्या परीषह-विहार में होने वाला कष्ट। १० निषद्या परीषह-स्वाध्याय आदि करने की भूमि ऊँची नीची हो तो वहाँ बैठने से होने वाला कष्ट। ११ शय्या परीषह-रहने का स्थान तथा सोने की जगह अनुकूल न होने से होने वाला कष्ट। १२ आक्रोश परीषह-किसी के द्वारा धमकाया जाने पर या फटकारा जाने पर उन दुर्वचनों से होने वाला कष्ट। १३ वध परीषह-लकड़ी आदि से पीटा जाने पर होने वाला कष्ट। १४ याचना परीषह-भिक्षा वृत्ति (गोचरी) में मांगने से होने वाला कष्ट। १५ अलाभ परीषह-वस्तु के न मिलने पर होने वाला कष्ट। १६ रोग परीषह-रोग के कारण होने वाला कष्ट। १७ तृण स्पर्श परीषह-तिनकों पर सोने से अथवा मार्ग में चलते समय तृण आदि पैर में चुभ जाने से होने वाला कष्ट। १८-जल्लपरीषह-शरीर और वस्त्र में चाहे जितना मैल लगे किन्तु उद्वेग को प्राप्त न होना तथा स्नान करने की इच्छा भी न करना जल्ल (मल) परीषह है। १६ सत्कार पुरस्कार परीषह-जनता द्वारा मान पूजा होने पर हर्षित न होना अपितु समभाव रखना और मान पूजा के अभाव में खिन्न न होना सत्कारपुरस्कार परीषह है। २० प्रज्ञा परीषह-प्रज्ञा अर्थात बुद्धि की तीव्रता होने पर गर्व न करना। २१ अज्ञान परिषह-अज्ञान अर्थात बुद्धि मन्द होने पर खिन्न न होना २२ दर्शन परीषह-दूसरे मत वालों का आडम्बर देख कर भी अपने धर्म में दृढ़ रहना दर्शन परीषह है।

प्रश्न--परीषह किसे कहते हैं!

२२—अनुकरणीय सहिष्णुता
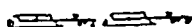
यक्षाविष्ट चित्त से गृहस्थावस्था में जो अर्जुन माली ६ पुरुष और १ स्त्री का प्रति-दिन वध करता था, वही एक दिन भगवान् महावीर के धर्मोपदेश से प्रभावित हो कर जब अणगार बन गया और बेले-बेले पारणा करता हुआ विचरने लगा था, तभी एक दिन भ० महावीर से अनुज्ञा ले कर बेले के पारणे के लिए गोचरी को निकला तो उस समय उसकी जो सहिष्णुता थी—उसके हृदय में क्रूरता के स्थान पर जो अनुकरणीय समता छा गई थी, उसका परिचय देते हुए शास्त्रकार कहते हैं:—

तए णं से अज्जुणए 'अणगारे छट्ठक्खमण-पारणगंसि पढमपोरिसीए सज्झायं करेइ, जहा गोयमस्वामी जाव अडइ। तए णं तं अज्जुणयं अणगारं रायगिहे णयरे उच्च-णीय जाव अडमाणं बहवे इत्थीओ य पुरिसा य डहरा य महल्ला य जुवाणा य एवं वयासी—इमेणं मे पिया मारिया, इमेणं मे माया मारिया, भाया मारिया, भगिणी मारिया, भज्जा मारिया, पुत्ते मारिए, धूया मारिया, सुण्हा मारिया, इमेणं मे अण्णयरे सयणसंबंधि परियणे मारिए त्ति कट्टु अप्पेगइया अक्कोसंति अप्पेगइया हीलंति णिंदंति खिंसंति गरिहंति, तज्जेंति तालेंति ॥

लौकिक और पारलौकिक फल की इच्छा रहित होकर तप संयम आदि क्रियाएँ करनी चाहिये और तप संयम आदि क्रियाओं में दूसरे किसी की भी सहायता की अपेक्षा न करनी चाहिये। ५-शिक्षा-सूत्रार्थ ग्रहण रूप ग्रहण शिक्षा और प्रतिलेखनादि रूप आसेवन शिक्षा का अभ्यास करना चाहिये। ६-निष्प्रतिकर्मता अपने शरीर का संस्कार एवं शृङ्गार न करना चाहिये। ७-अज्ञानता-यश और पूजा की कामना न करते हुए इस प्रकार तप करना चाहिये कि किसी को पता ही न लगे। उसे अपना तप किसी के आगे प्रकाशित न करना चाहिये। ८-अलोभ- निर्लोभी होना चाहिए ९-तितिक्षा साधु को सहनशील होकर परीषह उपसर्गों पर विजय प्राप्त करनी चाहिये। १०--आर्जव-सरलता अपनानी चाहिए। ११-शुचि-शुचि होना चाहिए सत्यवादी और संयमी होना चाहिए। १२-समदृष्टि-सम्यग् दृष्टि होना चाहिये और सम्यग् दर्शन की शुद्धि रखनी चाहिये। १३-समाधि-सदा समाधिवान् अर्थात् प्रसन्न चित्त रहना चाहिये। १४-आचार-चारित्र शील होना चाहिये एवं साध्वाचार का पालन करने में माया न करनी चाहिये। १५-विनयोपगत-विनयी एवं नम्र होना चाहिये, कदापि अभिमान न करना चाहिये। १६ धृतिमान्-धैर्यवान् होना चाहिये, उसे कभी दीन भाव न लाना चाहिये। १७ संवेग-सवेग भाव (संसार का भय और मोक्ष की अभिलाषा) होनी चाहिये। १८ प्रणिधि-छल कपट का त्याग करना चाहिये। कभी मायाशल्य का सेवन न करना चाहिये। १९ सुविधि-सदनुष्ठान (उत्तम कार्य) करना चाहिये। २० संवरवान्-सवरशील होना चाहिये। नवीन कर्मों को आत्मा में आने से रोकना चाहिये। २१ आत्मदोषोपसंहार-दोषों की शुद्धि करके, उनका निरोध करना। २२ सर्वकाम विरक्तता-पाँचों इन्द्रियों के इष्ट विषयों से

कुछ दिनों बाद चित्त सारथी ने श्वेताम्बिका लौटने का विचार किया। उसने जितशत्रु राजा से लौटने की अनुमति माँगी। जितशत्रु राजा ने प्रदेशी राजा के लिए एक बहुमूल्य भेंट देकर चित्तसारथी को विदा दी। विदा होते समय चित्त सारथी केशी-कुमार श्रमण को वन्दना करने के लिए गया। वन्दना नमस्कार करके उसने उनसे श्वेताम्बिका पधारने की विनती की और फिर वहाँ से प्रस्थान कर दिया।

ग्रामानुग्राम विहार करते हुए केशीकुमार श्रमण श्वेताम्बिका नगरी के मृगवन उद्यान में पधारे। उनके पधारने के समाचार जानकर चित्तसारथी को बड़ी प्रसन्नता हुई। आनन्दित होता हुआ वह उद्यान में पहुंचा। वन्दना नमस्कार करके उसने निवेदन किया:—"भगवन्! हमारा राजा प्रदेशी बड़ा पापी है। यदि आप उसे धर्म सुनायें तो बहुत लाभ हो सकता है। खुद राजा प्रदेशी का सुधार हो और उसके हाथ से मारे जाने वाले द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी, सरीसृप आदि को अभयदान मिले। हे भगवन्! यदि आप राजा प्रदेशी को धर्म सुनायें तो बहुत-से श्रमण माहण और भिक्षुकों को तथा राजा प्रदेशी को और उसके सम्पूर्ण राष्ट्र को शान्ति की प्राप्ति हो।

चित्त सारथी की उपर्युक्त प्रार्थना को सुन कर केशीकुमार श्रमण ने कहा कि—हे देवानुप्रिय! तुम्हारा कथन यथार्थ है किन्तु राजा के हमारे पास आये बिना हम क्या कर सकते हैं? चित्त सारथी ने किसी उपाय से राजा को वहां लाने का विचार किया। एक दिन चित्त सारथी कुछ नये घोड़ों की चाल दिखाने के बहाने राजा को उधर ले आया। राजा बहुत थक गया था। इसलिए विश्राम करने के लिये मृगवन में चला गया। वहां केशीश्रमण और उनकी पर्षदा को देख कर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। पहले तो

२५—श्रमण धर्म

दसविहे समणधम्मे पण्णत्ते तंजहा-खंती मुत्ती अज्जवे मद्दवे लाघवे सच्चे संजमे तवे चियाए बंभचेरवासे। *

—समवायांग १०

अर्थ—मोक्ष की साधन रूप क्रियाओं के पालन करने को चारित्र कहते हैं। इसी का नाम श्रमणधर्म है। यद्यपि इसका नाम श्रमण धर्म अर्थात साधु का धर्म है। तथापि सभी के लिए जानने योग्य तथा आचरणीय हैं। धर्म के ये ही दस लक्षण माने जाते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) खंती (क्षमा) क्रोध पर विजय प्राप्त करना। क्रोध का कारण उपस्थित होने पर भी शान्ति रखना।

(२) मुत्ती (मुक्ति)—लोभ पर विजय प्राप्त करना। पौद्‌ग-लिक वस्तुओं पर बिल्कुल आसक्ति न रखना।

(३) अज्जवे (आर्जव)—कपट रहित होना। माया, दम्भ, ठगाई आदि का सर्वथा त्याग करना।

(४) मद्दवे (मार्दव)-मान का त्याग करना जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, तप, ज्ञान, लाभ और बल, इन आठों में से किसी का मद न करना। अभिमान का सर्वथा त्याग करना।

---

* खंती मद्दव अज्जव, मुत्ती तव संजये य बोद्धव्वे।
सच्चं सोअं अकिंचणं च बंभं च जइधम्मो॥

निन्दा) अरतिरति, मायामृषावाद-(कपट सहित झूठ बोलना) मिथ्यादर्शन शल्य से निवृत्त रहता है, वह महान कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाता है वह संयम में स्थित है, वह सब पाप कर्मों से निवृत्त हो जाता है। वही सच्चा भिक्षु-(साधु) है।

जितने भी *त्रस और स्थावर प्राणी हैं उन सबका वह स्वयं आरम्भ नहीं करता है और दूसरों के द्वारा भी आरम्भ नहीं करवाता है तथा आरम्भ करने वालों को भला भी नहीं जानता है। इस कारण से वह साधु महान् कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाता है, वह शुद्ध संयम में स्थित है और सब पापों से निवृत्त है।

जो ये स्त्री आदि सम्बन्धी सचित्त कामभोग हैं और मनोज्ञ शब्दादि रूप अचित्त काम भोग हैं उन काम भोगों को जो साधु स्वयं ग्रहण नहीं करता है और दूसरों के द्वारा भी ग्रहण नहीं करवाता है तथा ग्रहण करने वालों को अच्छा नहीं मानता है, वह महान् कर्म बन्धनों से मुक्त है, वह शुद्ध संयम में उपस्थित है और पाप से निवृत्त है।

---

* त्रस—त्रस नामकर्म के उदय से चलने फिरने वाले जीव को त्रस कहते हैं अर्थात् जो जीव सर्दी गर्मी से अपना बचाव करने के लिए छाया से धूप में और धूप से छाया में आवें जावें उन्हें त्रस कहते हैं। त्रस के चार भेद हैं द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय।

द्वीन्द्रिय-जिन जीवों के स्पर्शन (शरीर) और रसना (जीभ) ये दो इन्द्रियां हों उन्हें द्वीन्द्रिय कहते हैं। जैसे-शंख, सीप, कोडी, कोडा, लट, गिंडोला, अलसिया कृमि (चूरणीया), वाला(नहरू) आदि। इसकी दो लाख योनि है। आयुष्य जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट बारह वर्ष की है।

त्रीन्द्रिय--जिन जीवों के स्पर्शन, रसना और घ्राण (नाक) ये तीन इन्द्रियां हों उनको त्रीन्द्रिय कहते हैं जैसे-जूं, लीख, चांचड़, कुन्थुआ,

कानखजूरा आदि। इनकी दो लाख योनि है। आयुष्य जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट उनपचास दिन की है।

चतुरिन्द्रिय--जिस जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु (आँख) ये चारे इन्द्रियां न हों उनको चतुरिन्द्रिय कहते हैं। जैसे-मक्खी, मच्छर, डाँस, भँवरा, टिड्डी, पतंगिया, कसारी, आदि। इनकी दो लाख योनि है। आयुष्य जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट छह महीना है।

पञ्चेन्द्रिय—जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र (कान) ये पाँच इन्द्रियाँ हों, उन्हें पञ्चेन्द्रिय कहते हैं। जैसे गाय, भैंस, सर्प, देवता, नारकी, मनुष्य आदि। इनकी २६ लाख योनि है अर्थात् चार लाख देवता, चार लाख नारकी, चार लाख तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय और चौदह लाख मनुष्य, यह कुल मिला कर २६ लाख योनि है। आयुष्य नारकी का जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम है। तिर्यंच का जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है। मनुष्य की जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है। देवता की जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट तेतीस सागरोम की है।

प्रश्न—स्थावर किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो जीव स्थावर नामकर्म के उदय से एकेन्द्रिय में जन्म लेते हैं अर्थात् जो सर्दी गर्मी आदि से अपना बचाव करने के लिए धूप से छाया में और छाया से धूप में आ जा न सकें उन्हें स्थावर कहते हैं। इनके पाँच भेद हैं पृथ्वी काय अप्काय, तेउकाय, और वनस्पतिकाय।

पृथ्वीकाय—जिन जीवों का शरीर पृथ्वी रूप हो उन्हें पृथ्वीकाय कहते हैं जैसे-मिट्टी हींगलू, हरताल, पत्थर, हीरा, पन्ना आदि सात लाख योनि है। आयुष्य जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष का है। पृथ्वीकाय का वर्ण पीला है, स्वभाव कठोर है संस्थान मसूर की दाल के आकार है। एक पर्याप्त की नेश्राय में असंख्याता अपर्याप्त

निन्दा) अरतिरति, मायामृषावाद-(कपट सहित झूठ बोलना) मिथ्यादर्शन शल्य से निवृत्त रहता है, वह महान कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाता है वह संयम में स्थित है, वह सब पाप कर्मों से निवृत्त हो जाता है । वही सच्चा भिक्षु-(साधु) है ।

जितने भी *त्रस और स्थावर प्राणी हैं उन सबको वह स्वयं आरम्भ नहीं करता है और दूसरों के द्वारा भी आरम्भ नहीं करवाता है तथा आरम्भ करने वालों को भला भी नहीं जानता है । इस कारण से वह साधु महान् कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाता है, वह शुद्ध संयम में स्थित है और सब पापों से निवृत्त है ।

जो ये स्त्री आदि सम्बन्धी सचित्त कामभोग हैं और मनोज्ञ शब्दादि रूप अचित्त काम भोग हैं उन काम भोगों को जो साधु स्वयं ग्रहण नहीं करता है और दूसरों के द्वारा भी ग्रहण नहीं करवाता है तथा ग्रहण करने वालों को अच्छा नहीं मानता है, वह महान् कर्म बन्धनों से मुक्त है, वह शुद्ध संयम में उपस्थित है और पाप से निवृत्त है ।

---

* त्रस—त्रस नामकर्म के उदय से चलने फिरने वाले जीव को त्रस कहते हैं अर्थात् जो जीव सर्दी गर्मी से अपना बचाव करने के लिए छाया से धूप में और धूप से छाया में आवें जावें उन्हें त्रस कहते हैं । त्रस के चार भेद हैं द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय ।

द्वीन्द्रिय-जिन जीवों के स्पर्शन (शरीर) और रसना (जीभ) ये दो इन्द्रियां हों उन्हें द्वीन्द्रिय कहते हैं । जैसे-शंख, सीप, कोडी, कोडा, लट, गिंडोला, अलसिया कृमि (चूरणीया), वाला(नहरू) आदि । इनकी दो लाख योनि है । आयुष्य जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट बारह वर्ष की है ।

त्रीन्द्रिय--जिन जीवों के स्पर्शन, रसना और घ्राण (नाक) ये तीन इन्द्रियां हों उनको त्रीन्द्रिय कहते हैं जैसे-जूं, लीख, चांचड़, कुन्थुआ,

कानखजूरा आदि। इनकी दो लाख योनि है। आयुष्य जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट उनपचास दिन की है।

चतुरिन्द्रिय--जिस जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु (आंख) ये चारे इन्द्रियां न हों उनको चतुरिन्द्रिय कहते हैं। जैसे-मक्खी, मच्छर, डाँस, भँवरा, टिड्डी, पतंगिया, कसारी, आदि। इनकी दो लाख योनि है। आयुष्य जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट छह महीना है।

पञ्चेन्द्रिय—जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र (कान) ये पाँच इन्द्रियों हों, उन्हें पञ्चेन्द्रिय कहते हैं। जैसे गाय, भैंस, सर्प, देवता, नारकी, मनुष्य आदि। इनकी २६ लाख योनि है अर्थात् चार लाख देवता, चार लाख नारकी, चार लाख तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय और चौदह लाख मनुष्य, यह कुल मिला कर २६ लाख योनि है। आयुष्य नारकी का जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम है। तिर्यंच को जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है। मनुष्य की जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है। देवता की जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट तेतीस सागरोम की है।

प्रश्न—स्थावर किसे कहते हैं?

उत्तर—जो जीव स्थावर नामकर्म के उदय से एकेन्द्रिय में जन्म लेते हैं अर्थात् जो सर्दी गर्मी आदि से अपना बचाव करने के लिए धूप से छाया में और छाया से धूप में आ जा न सकें उन्हें स्थावर कहते हैं। इनके पाँच भेद हैं पृथ्वी काय अप्काय, तेउकाय, और वनस्पतिकाय।

पृथ्वीकाय—जिन जीवों का शरीर पृथ्वी रूप हो उन्हें पृथ्वीकाय कहते हैं जैसे-मिट्टी हींगलू, हरताल, पत्थर, हीरा, पन्ना आदि सात लाख योनि है। आयुष्य जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष का है। पृथ्वीकाय का वर्ण पीला है, स्वभाव कठोर है संस्थान मसूर की दाल के आकार है। एक पर्याप्त की नेसराय में असंख्याता अपर्याप्त

निन्दा) अरतिरति, मायामृषावाद-(कपट सहित झूठ बोलना) मिथ्यादर्शन शल्य से निवृत्त रहता है, वह महान कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाता है वह संयम में स्थित है, वह सब पाप कर्मों से निवृत्त हो जाता है। वही सच्चा भिक्षु-(साधु) है।

जितने भी *त्रस और स्थावर प्राणी हैं उन सबका वह स्वयं आरम्भ नहीं करता है और दूसरों के द्वारा भी आरम्भ नहीं करवाता है तथा आरम्भ करने वालों को भला भी नहीं जानता है। इस कारण से वह साधु महान् कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाता है, वह शुद्ध संयम में स्थित है और सब पापों से निवृत्त है।

जो ये स्त्री आदि सम्बन्धी सचित्त कामभोग हैं और मनोज्ञ शब्दादि रूप अचित्त काम भोग हैं उन काम भोगों को जो साधु स्वयं ग्रहण नहीं करता है और दूसरों के द्वारा भी ग्रहण नहीं करवाता है तथा ग्रहण करने वालों को अच्छा नहीं मानता है, वह महान् कर्म बन्धनों से मुक्त है, वह शुद्ध संयम में उपस्थित है और पाप से निवृत्त है।

---

* त्रस—त्रस नामकर्म के उदय से चलने फिरने वाले जीव को त्रस कहते हैं अर्थात् जो जीव सर्दी गर्मी से अपना बचाव करने के लिए छाया से धूप में और धूप से छाया में आवें जावें उन्हें त्रस कहते हैं। त्रस के चार भेद हैं द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय।

द्वीन्द्रिय-जिन जीवों के स्पर्शन (शरीर) और रसना (जीभ) ये दो इन्द्रियां हों उन्हें द्वीन्द्रिय कहते हैं। जैसे-शंख, सीप, कोडी, कीडा, लट, गिंडोला, अलसिया कृमि (चूरणीया), बाला(नहरू) आदि। इसकी दो लाख योनि है। आयुष्य जघन्य अन्तमुहूर्त उत्कृष्ट बारह वर्ष की है।

त्रीन्द्रिय--जिन जीवों के स्पर्शन, रसना और घ्राण (नाक) ये तीन इन्द्रियां हों उनको त्रीन्द्रिय कहते हैं जैसे-जूं, लीख, चांचड़, कुन्थुआ,

कानखजूरा आदि। इनकी दो लाख योनि है। आयुष्य जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट उनपचास दिन की है।

चतुरिन्द्रिय--जिस जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु (आंख) ये चारे इन्द्रियां न हों उनको चतुरिन्द्रिय कहते हैं। जैसे-मक्खी, मच्छर, डांस, भँवरा, टिड्डी, पतंगिया, कसारी, आदि। इनकी दो लाख योनि है। आयुष्य जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट छह महीना है।

पञ्चेन्द्रिय—जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र (कान) ये पांच इन्द्रियों हों, उन्हें पञ्चेन्द्रिय कहते हैं। जैसे गाय, भैंस, सर्प, देवता, नारकी, मनुष्य आदि। इनकी २६ लाख योनि है अर्थात् चार लाख देवता, चार लाख नारकी, चार लाख तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय और चौदह लाख मनुष्य, यह कुल मिला कर २६ लाख योनि है। आयुष्य नारकी का जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम है। तिर्यंच की जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है। मनुष्य की जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है। देवता की जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट तेतीस सागरोम की है।

तत्ततवे, घोर-तवे, महातवे, उराले, घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबंभचेर-वासी, उच्छूढसरीरे, संखित्त-विउल-तेउलेस्से छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥

—उपासकदशांग अ. १

अर्थ—उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के ज्येष्ठ अन्तेवासी (शिष्य) इन्द्रभूति अनगार थे। उनका गोत्र गौतम था। उनका शरीर सात हाथ ऊँचा था। उनका शरीर समचतुरस्र संस्थान और वज्रऋषभ नाराचसंहनन से युक्त था। उनका शरीर कसौटी पर घिसे हुए सोने के समान गौरा था। वे उग्र तपस्वी थे अर्थात उत्कृष्ट तप करने वाले थे वे दीप्ततपस्वी थे यानी अग्नि के समान कर्म रूपी वन को जलाने वाला तप करने वाले थे' वे तप्ततपस्वी थे अर्थात कर्मों को तपाने वाली तपस्या करने वाले थे। वे महातपस्वी थे अर्थात फल की इच्छा न करते हुए निष्काम तपस्या करने वाले थे। वे उदार थे। वे "घोरगुण" थे-"घोरोऽन्यैर्दुरनुचरा गुणाः मूलगुणा यस्य सः।" ऐसी टीकाकार ने व्याख्या की है। आशय यह है कि वे सर्वोत्तम गुणवान् थे।

वे घोर तपस्वी थे और घोर ब्रह्मचारी थे अर्थात नव बाड़ सहित अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले थे। वे शरीर की सेवा शुश्रूषा से रहित थे। उन्होंने अपनी विपुल तेजोलेश्या को संक्षिप्त कर रखी थी अर्थात वे तेजोलेश्या का प्रयोग नहीं करते थे। वे निरन्तर बेले-बेले की तपस्या से संयम से और अनशन आदि बारह प्रकार के तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे।

अनगारों के सत्ताईस गुणों का उल्लेख करते हुए आगमकार कहते हैं—

सत्तावीसं अणगार-गुणा पण्णत्ता तंजहा-पाणाइवायाओ वेरमणं, मुसावायाओ वेरमणं, अदिण्णादाणाओ वेरमणं, मेहुणाओ वेरमणं, परिग्गहाओ वेरमणं, सोइंदिय-णिग्गहे, चक्खु-इंदियणिग्गहे, घाणिंदय णिग्गहे, जिब्भिंदिय णिग्गहे, फासिंदिय णिग्गहे, कोहविवेगे, माण-विवेगे माया विवेगे, लोह विवेगे, भावसच्चे, करण सच्चे, जोग सच्चे, खमा, विरागया, मणसमाहारणया, वयसमाहारणया कायसमाहारणया, णाण संपण्णया, दंसण-संपण्णया, चरित्त संपण्णया, वेयण अहियासणिया, मारणंतिय अहियासणिया ।

—समवायांग २७

अर्थ—अनगार (गृहत्यागी साधु) के सत्ताईस गुण कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं-१ प्राणातिपात (जीवहिंसा) से निवृत्त होना। २ मृषावाद (झूठ) से निवृत्त होना। ३ अदत्तादान (चोरी) से निवृत्त होना। ४ मैथुन (काम भोग) से निवृत्त होना। ५ परिग्रह से निवृत्त होना। ६ श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह (श्रोत्रेन्द्रिय को वश में रखना) मनोज्ञ शब्दों को सुन कर राग न करना और अमनोज्ञ-अप्रिय शब्दों को सुन कर उन पर द्वेष न करना। ७ चक्षु इन्द्रिय निग्रह अर्थात मनोज्ञ एवं सुन्दर रूपों को देख कर उनमें आसक्त न होना और अमनोज्ञ रूपों को देख कर उन पर द्वेष न करना। ८ घ्राणेन्द्रिय निग्रह अर्थात सुरभिगन्ध (सुगन्ध) में आसक्त न होना और दुरभिगन्ध (दुर्गन्ध) पर द्वेष न करना। ९ जिह्वा इन्द्रिय का निग्रह

अर्थात् मनोज्ञ रसों में आसक्त न होना और अमनोज्ञ रसों पर द्वेष न करना तथा सावद्य एवं अप्रिय वचन न बोलना किन्तु निरवद्य एवं हित मित वचन बोलना। १० स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह अर्थात् स्पर्शनेन्द्रिय को वश में रखना, मनोज्ञ स्पर्शों में आसक्त न होना एवं अमनोज्ञ स्पर्शों पर द्वेष न करना। पाँचों इन्द्रियों को वश में रखना अर्थात् इन्द्रियों के इष्ट विषयों की प्राप्ति होने पर उनमें राग न करना और अनिष्ट विषयों पर द्वेष न करना। ११ क्रोध विवेक-क्रोध का त्याग करना। १२ मानविवेक-मान का त्याग करना। १३ मायाविवेक-माया (कपट) का त्याग करना। १४ लोभविवेक-लोभ का त्याग करना। १५ भावसत्य-अन्तः करण की शुद्धि। १६ करणसत्य अर्थात् वस्त्र पात्र आदि की प्रतिलेखना तथा अन्य क्रियाओं को शुद्ध उपयोगपूर्वक करना। १७ योग सत्य मन-वचन-कायारूप तीनों योगों की शुभप्रवृत्ति करना। १८ क्षमा-अपराधों को माफ करना। १९ विरागता-वैराग्य (आसक्ति रहित होना)। २० मनसमाहरणता-मन की शुभ प्रवृत्ति करना। २१ वचन समाहरणता-वचन की शुभ प्रवृत्ति करना। २२ कायसमाहरणता-काया की शुभ प्रवृत्ति करना। २३ ज्ञानसम्पन्नता, २४ दर्शनसम्पन्नता-जिन मार्ग में दृढ़ श्रद्धा होना। २५ चारित्रसम्पन्नता। २६ वेदनाअध्यासनता-शीत, ताप आदि को एवं शारीरिक वेदना को समभाव पूर्वक सहन करना। २७ मारणान्तिकाधिसहनता-मृत्यु के समय होने वाले कष्टों को समभावपूर्वक सहन करना और ऐसा विचार करना कि ये कष्ट मेरे कल्याण के लिए हैं।

इस प्रकार अनगार के ये सत्ताईस गुण हैं।

समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे णिग्गंथा भगवंतो अप्पेगइया आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी,

ओहिणाणी, मणपज्जवणाणी, केवलणाणी, अप्पेगइया मणवलिया वयवलिया कायवलिया अप्पेगइया णाणवलिया दंसण-वलिया चरित्त वलिया अप्पेगइया मणेणं सावा-णुग्गहसमत्था, वाया सावाणुग्गहसमत्था, काएणं सावा-णुग्गहसमत्था, अप्पेगइया खेलोसहिपत्ता, जल्लोसहिपत्ता विप्पोसहिपत्ता, आमोसहिपत्ता, सव्वोसहिपत्ता, अप्पेगइया कोट्ठबुद्धी एवं बीयबुद्धि, पडबुद्धी, अप्पेगइया पयाणुसारी अप्पेगइया संभिण्णसोआ, अप्पेगइया खीरासवा, अप्पे-गइया महुआसवा, अप्पेगइआ सप्पिआसवा अप्पेगइया अक्खीण महाणसिया, अप्पेगइया उज्जुमई, अप्पेगइया विउलमइ, विउव्वणिड्ढिपत्ता, चारणा, विज्जाहरा, आगासाइवाइणो ॥

—उववाई

अर्थ—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के अन्तेवासी बहुत से निर्ग्रन्थ भगवन्तों में से कई एक मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधि-ज्ञानी, मन:पर्यय ज्ञानी, और केवलज्ञानी थे। बहुत से उत्कृष्ट मानसिक बल वाले थे बहुत से वचन- प्रतिज्ञा को एवं अपने कहे हुए वचन को निभाने वाले-पालने वाले थे अथवा परमतावलबियों को क्षोभ उत्पादक वचन बोलने वाले थे। कई मुनि कायवलिया थे अर्थात् क्षुधा पिपासा आदि परीषहों को सहने में अम्लान काया वाले थे। कितने ही ज्ञान वलिया थे अर्थात निर्दोष ज्ञान के धारक थे। दर्शन बलिया थे अर्थात पर मतावलम्बियों से अखण्डनीय दर्शन (सिद्धान्त) वाले थे। कई-

एक चारित्र बलिया थे अर्थात् दृढ चारित्र वाले थे। कितने ही मुनि ऐसे थे जो मन से ही शाप (श्राप) देने में और मन से ही अनुग्रह (कृपा) करने में समर्थ थे। इसी प्रकार वचन से और काया से शाप (श्राप) देने में और अनुग्रह करने में समर्थ थे। कितने ही मुनि खेलौषधि लब्धि से युक्त थे। कितने ही जल्लौषधि लब्धि से युक्त थे कई मुनि विप्रुडोषधि लब्धि से युक्त थे। कितने ही मुनि आमर्पोषधि लब्धि से युक्त थे। कितने ही मुनि कोष्ठक बुद्धि वाले, बीज बुद्धि वाले और पट बुद्धि वाले थे। कितने ही मुनि पदानुसारी थे। कई-एक मुनि सम्भिन्न श्रोता थे। कितने ही मुनि क्षीराश्रव लब्धि युक्त थे। कई मध्वाश्रव लब्धि युक्त थे। बहुत-से मुनि सर्पिराश्रव लब्धि युक्त थे। कितने ही मुनि अक्षीण महानस लब्धि युक्त थे। कितने ही मुनि ऋजुमति मनःपर्यायज्ञान लब्धि युक्त थे। कितने ही मुनि विपुल मति मनःपर्याय लब्धि युक्त थे। कई-एक मुनि वैक्रिय लब्धि रूप ऋद्धि से युक्त थे। बहुत-से मुनि जङ्घा चारण लब्धि से युक्त थे। कितने ही मुनि विद्याचारण लब्धि से युक्त थे। कुछ मुनि आकाशातिपाती लब्धि से युक्त थे।

टिप्पणी—शुभ अध्यवसाय तथा उत्कृष्ट तप संयम के आचरण से उन-उन कर्मों का क्षय और क्षयोपशम होकर आत्मा में जो विशेष शक्ति उत्पन्न होती है उसे "लब्धि" कहते हैं।

उपयुक्त पाठ में आई हुई खेलौषधि जल्लौषधि आदि लब्धियों का अर्थ इस प्रकार है—

खेलौषधि—खेल अर्थात् श्लेष्म। जिस लब्धि के प्रभाव से लब्धिधारी के श्लेष्म में सुगन्ध आती है और उससे समस्त रोग आदि अनर्थ शान्त हो जाते हैं, उसे खेलौषधि लब्धि कहते हैं।

जल्लौषधि—शरीर के मैल को "जल्ल" कहते हैं। जिसके प्रभाव से मैल मे सुगन्ध आती है और उसके स्पर्श से समस्त रोग शान्त हो जाते हैं, उसे जल्लौषधि लब्धि कहते हैं।

विप्रुडोषधि लब्धि—जिस लब्धि के कारण योगी के विप्रुड् (मूत्र) में सुगन्ध आने लगती है और उसके स्पर्श से समस्त रोग शान्त हो जाते हैं; उसे विप्रुडोषधि कहते हैं।

आमर्पौषधि लब्धि—जिस लब्धि के प्रभाव से लब्धिधारी योगी के हाथ पैर आदि अङ्गों के स्पर्श मात्र से रोगी के रोग शांत हो जाते हैं उसे आमर्पौषधि लब्धि कहते हैं।

सर्वौषधि लब्धि जिस लब्धि के प्रभाव से लब्धिधारी योगी के मल, नख, केश आदि सभी में सुगन्ध आने लगती हैं और उनके स्पर्श से समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं उसे सर्वौषधि लब्धि कहते हैं।

कोष्ठक बुद्धि लब्धि—जिस प्रकार कोठे में डाला हुआ धान्य बहुत काल तक सुरक्षित रहता है और उसका कुछ नहीं बिगड़ता है। इसी प्रकार जिस लब्धि के प्रभाव से लब्धिधारी योगी अपने गुरु महाराज एवं आचार्यादि के मुख से सुना हुआ सूत्रार्थ ज्यों का त्यों धारण कर लेता है और चिर काल तक भूलता नहीं है उसे कोष्ठक बुद्धि लब्धि कहते हैं।

बीजबुद्धि लब्धि जिस प्रकार एक बीज बोने से अनेक बीज पैदा हो जाते है, उसी प्रकार जिस लब्धि के प्रभाव से बीज रूप एक ही अर्थ प्रधान पद सीख कर अपनी बुद्धि से स्वयं बहुत सा बिना सुना अर्थ भी जान ले उसे बीज बुद्धि लब्धि कहते हैं। यह

विध गणधरों में सर्वोत्कृष्ट रूप से होती है' वे तीर्थङ्कर भगवान् के खारविन्द से उत्पादव्यय-ध्रौव्य रूप त्रिपदी का ज्ञान प्राप्त कर म्पूर्ण द्वादशाङ्गी की रचना करते हैं।

पटबुद्धि-जिस प्रकार किसी वृक्ष के नीचे कपड़ा बिछा देने उस वृक्ष पर से गिरे हुए फल फूल आदि सब को वह वस्त्र झेल ता है, उसी प्रकार वक्ता के मुख से निकले हुए नाना अर्थों को ो बुद्धि ग्रहण कर ले उसे पटबुद्धि कहते हैं।

पदानुसारिणी लब्धि—जिस लब्धि के प्रभाव से सूत्र के एक द को श्रवण करके दूसरे बहुत से पद बिना सुने ही अपनी बुद्धि जान ले उसे पदानुसारिणी लब्धि कहते हैं।

सम्भिन्नश्रोतो लब्धि—जो शरीर के प्रत्येक भाग से सुने उसे म्भिन्न श्रोता कहते हैं। ऐसी शक्ति जिस लब्धि से प्राप्त हो उसे म्भिन्न श्रोतो लब्धि कहते हैं। अथवा श्रोत्र, चक्षु, घ्राण आदि न्द्रियाँ अपने अपने विषय को ग्रहण करती है किन्तु जिस लब्धि प्रभाव से किसी भी एक इन्द्रिय से दूसरी सभी इन्द्रियों के विषय हण किये जा सकें उसे सम्भिन्न श्रोतो लब्धि कहते हैं। अथवा स लब्धि के प्रभाव से लब्धिधारी योगी बारह योजन में फैली ई चक्रवर्ती की सेना में बजाये जाने वाले शंख, भेरी, काहला, क्का, घण्टा आदि वाद्य विशेषों के शब्द पृथक पृथक रूप से नता है उसे सम्भिन्न श्रोतो लब्धि कहते हैं।

क्षीराश्रव लब्धि—जिस लब्धि के प्रभाव से वक्ता के वचन ताओं को क्षीर अर्थात् दूध के समान मधुर और प्रिय लगते हैं से क्षीराश्रव लब्धि कहते हैं। पुण्ड्र इक्षुओं (विशेष प्रकार के गन्नों) चरने वाली एक लाख श्रेष्ठ गायों का दूध निकाल कर पचास

हजार गायों को पिला दिया जाय और उन पचास हजार गायों का दूध निकाल कर पचीस हजार गायों का पिला दिया जाय। इसी क्रम से करते करते वह दूध एक गाय को पिला दिया जाय। फिर उस गाय का दूध निकाल कर पीने पर जिस प्रकार मन प्रसन्न होता है और शरीर की पुष्टि होती है। उसी प्रकार जिसका वचन सुनने से मन और शरीर प्रसन्न होते हैं उसे क्षीराश्रव लब्धि वाला कहते हैं। अथवा जिस लब्धि के प्रभाव से साधु महात्माओं के पात्र में आया हुआ रूखा सूखा आहार भी क्षीर (दूध) के समान स्वादिष्ट बन जाता है और उसकी परिणति भी क्षीर की तरह ही पुष्टिकारक होती है, उस शक्ति को क्षीराश्रव लब्धि कहते हैं।

मध्वाश्रव लब्धि—जिस लब्धि के प्रभाव से वक्ता के वचन श्रोताओं को मधु (शहद) के समान मधुर और प्रिय लगते हैं उसे मध्वाश्रव लब्धि कहते हैं अथवा साधु महात्माओं के पात्र में आया हुआ रूखा सूखा आहार भी जिस लब्धि के प्रभाव से मधु के समान मधुर एवं स्वादिष्ट बन जाय और उसकी परिणति भी उसी प्रकार हो उसे मध्वाश्रव लब्धि कहते हैं।

सर्पिराश्रव लब्धि—जिस लब्धि के प्रभाव से वक्ता के वचन श्रोताओं को सर्पि (घृत) के समान और प्रिय लगते हैं उसे सर्पिराश्रव लब्धि कहते हैं अथवा साधु महात्माओं के पात्र में आया हुआ रूखा सूखा आहार भी सर्पि (घृत) के समान स्निग्ध और स्वादिष्ट बन जाता है, उसको सर्पिराश्रव लब्धि कहते हैं।

अक्षीणमहानसी लब्धि —जिस लब्धि के प्रभाव से भिक्षा में लाये हुए थोड़े से आहार से लाखों आदमी भोजन करके तृप्त हो जाते हैं किन्तु वह ज्यों का त्यों अक्षीण बना रहता है। लब्धिधारी के भोजन करने पर ही वह अन्न समाप्त होता है, महा-
नसी लब्धि कहते

वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥

अर्थ—लोहे के काँटे (बाण) तो थोड़े काल तक ही दुःखदायी होते हैं और वे जिस अङ्ग में लगे हैं, उस अङ्ग में से योग्य वैद्य द्वारा आसानी से निकाले भी जा सकते हैं; किन्तु कटु वचन रूपी बाणों को निकालना बहुत मुश्किल है; क्योंकि कठोर वचनों का प्रहार हृदय को बींध कर आर पार हो जाता है। वे कटु वचन रूपी बाण इस लोक और परलोक, दोनों लोकों में वैरभाव की परम्परा को बढाने वाले हैं तथा नरकादि दुर्गतियों में ले जाने वाले होने से वे महाभय को उत्पन्न करने वाले हैं।

समावयंता वयणाभिघाया
कण्णं गया दुम्मणियं जणंति।
धम्मुत्ति किच्चा परमग्गसूरे,
जिइंदिए जो सहई स पुज्जो ॥

अर्थ—समूह रूप से आते हुए कठोर वचन रूपी प्रहार कान में पड़ते ही दौर्मनस्यभाव उत्पन्न कर देते हैं अर्थात् कटु-वचनों को सुनते ही मन को पीड़ा पहुँचने से भावना दुष्ट हो जाती है; किन्तु क्षमा करना साधु का प्रथम धर्म है ऐसा मान कर जो साधु उन कठोर वचन रूपी बाणों को समभाव पूर्वक सहन कर लेता है, वह परमाग्र शूर अर्थात वीर शिरोमणि है, वह जितेन्द्रिय है, ऐसा साधु पूज्य होता है।

अवण्णवायं च परम्मुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं।

ओहारिणीं अप्पियकारिणीं च,
भासं न भासिज्ज सया स पुज्जो ॥

अर्थ—जो साधु किसी की पीठ पीछे या सामने निन्दा नहीं करता और पर पीड़ाकारी, निश्चयकारी और अप्रियकारी भाषा कभी नहीं बोलता है, वह पूज्य होता है।

अलोलुए अक्कुहए अमाई,
अपिसुणे या वि अदीणवित्ती।
नो भावए नो वि य भावियप्पा,
अकोउहल्ले य सया स पुज्जो ॥

अर्थ—जो साधु अलोलुप है अर्थात् जिव्हा लोलुपी नही है एवं किसी भी प्रकार का लोभ नहीं करता है। मन्त्र तन्त्रादि का प्रयोग नहीं करता है, जो अमायी (निष्कपट) है जो किसी की पैशुन्य (चुगली) नहीं करता है, जो भिक्षा नहीं मिलने पर भी अदीनवृत्ति रहता है अर्थात दीनता नहीं दिखाता—और जो दूसरों को प्रेरित करके अपनी स्तुति नहीं करवाता है और न स्वयं अपने मुँह से अपनी प्रशंसा करता है, जो कभी भी नाटक, खेल, तमाशा आदि देखने की इच्छा भी नहीं करता है, वह पूज्य होता है।

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू,
गिण्हाहि साहू गुणमुंचऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं,
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥

वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥

अर्थ—लोहे के काँटे (बाण) तो थोड़े काल तक ही दुःखदायी होते हैं और वे जिस अङ्ग में लगे हैं, उस अङ्ग में से योग्य वैद्य द्वारा आसानी से निकाले भी जा सकते हैं; किन्तु कटु वचन रूपी बाणों को निकालना बहुत मुश्किल है; क्योंकि कठोर वचनों का प्रहार हृदय को बांध कर आर पार हो जाता है। वे कटु वचन रूपी बाण इस लोक और परलोक, दोनों लोकों में वैरभाव की परम्परा को बढाने वाले हैं तथा नरकादि दुर्गतियों में ले जाने वाले होने से वे महाभय को उत्पन्न करने वाले हैं।

समावयंता वयणाभिघाया
कण्णं गया दुम्मणियं जणंति।
धम्मुत्ति किच्चा परमग्गसूरे,
जिइंदिए जो सहई स पुज्जो ॥

अर्थ—समूह रूप से आते हुए कठोर वचन रूपी प्रहार कान में पड़ते ही दौर्मनस्यभाव उत्पन्न कर देते हैं अर्थात् कटुवचनों को सुनते ही मन को पीड़ा पहुँचने से भावना दुष्ट हो जाती है; किन्तु क्षमा करना साधु का प्रथम धर्म है ऐसा मान कर जो साधु उन कठोर वचन रूपी बाणों को समभाव पूर्वक सहन कर लेता है, वह परमाग्र शूर अर्थात वीर शिरोमणि है, वह जितेन्द्रिय है, ऐसा साधु पूज्य होता है।

अवण्णवायं च परम्मुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं।

ओहारिणीं अप्पियकारिणीं च,
भासं न भासिज्ज सया स पुज्जो ॥

अर्थ—जो साधु किसी की पीठ पीछे या सामने निन्दा नहीं करता और पर पीड़ाकारी, निश्चयकारी और अप्रियकारी भाषा कभी नहीं बोलता है, वह पूज्य होता है।

अलोलुए अक्कुहए अमाई,
अपिसुणे या वि अदीणवित्ती।
नो भावए नो वि य भावियप्पा,
अकोउहल्ले य सया स पुज्जो ॥

अर्थ—जो साधु अलोलुप है अर्थात् जिव्हा लोलुपी नहीं है एवं किसी भी प्रकार का लोभ नहीं करता है। मन्त्र तन्त्रादि का प्रयोग नहीं करता है, जो अमायी (निष्कपट) है जो किसी की पैशुन्य (चुगली) नहीं करता है, जो भिक्षा नहीं मिलने पर भी अदीनवृत्ति रहता है अर्थात दीनता नहीं दिखाता-और जो दूसरों को प्रेरित करके अपनी स्तुति नहीं करवाता है और न स्वयं अपने मुँह से अपनी प्रशंसा करता है, जो कभी भी नाटक, खेल, तमाशा आदि देखने की इच्छा भी नहीं करता है, वह पूज्य होता है।

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू,
गिण्हाहि साहू गुणमुंचऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं,
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥

(१) प्राणातिपात विरमण महाव्रत-प्रमाद पूर्वक त्रस और
रूप समस्त जीवों के पाँच इन्द्रिय, मन, वचन, काया
छ्वास और आयु, इन दस प्राणों में से किसी भी प्राण
पात (नाश) करना प्राणातिपात है। सम्यग्ज्ञान और
र्वक जीवन पर्यन्त प्राणातिपात से तीन करण तीन योग
होना प्राणातिपात विरमण रूप प्रथम महाव्रत है।

(२) मृषावाद विरमण महाव्रत-प्रियकारी, पथ्यकारी एवं
न को छोड़ कर कपाय भय, हास्य आदि के वश असत्य,
व अहितकारी वचन कहना मृषावाद है। सूक्ष्म और बादर
असत्य वचन दो प्रकार का है। सद्भाव प्रतिषेध, असद्
वन, अर्थान्तर न्यास और गर्हा के भेद से असत्य वचन
र का भी है।

र को चोर कहना, कोढी को कोढी कहना, काणे को काणा
ादि अप्रिय वचन हैं। 'क्या जगल में तुमने मृग देखे हैं?
के यह पूछने पर मृग देखने वाले पुरुष का उन्हें विधि रूप
ना अहित वचन है। ये अप्रिय और अहित वचन व्यव-
य होने पर भी परपीड़ाकारी होने से एवं प्राणियों की
त पाप का हेतु होने से सावद्य हैं। इसलिए हिंसा युक्त
स्तव में असत्य ही हैं। ऐसे मृषावाद से सर्वथा जीवन
न करण तीन योग से निवृत्त होना मृषावाद विरमण रूप
ाव्रत है।

) अदत्तादान विरमण महाव्रत-कहीं पर भी ग्राम नगर
दि में सचित्त, अचित्त, अल्प, बहु, अणु स्थूल आदि वस्तु
स्वामी की आज्ञा बिना लेना अदत्तादान है। यह अदत्ता-
मी, जीव, तीर्थङ्कर और गुरु के भेद से चार प्रकार का
यथा—

स्वामी से बिना दी हुई तृण काष्ठ आदि वस्तु लेना स्वामी अदत्तादान है।

कोई सचित्त वस्तु स्वामी ने दे दी हो, परन्तु उस शरीर के अधिष्ठाता जीव की आज्ञा बिना उसे लेना जीव अदत्तादान है। जैसे माता पिता या संरक्षक द्वारा पुत्रादि को शिष्यभिक्षा के रूप दे दिया गया हो फिर भी उन्हें उनकी इच्छा के बिना दीक्षा लेने के परिणाम न होने पर भी उनकी अनुमति के बिना उन्हें दीक्षा देना जीव अदत्तादान है। इसी प्रकार सचित्त पृथ्वी आदि स्वामी द्वारा दिये जाने पर भी पृथ्वीशरीर के स्वामी जीव की आज्ञा न होने से उसे भोगना जीव अदत्तादान है। इस प्रकार सचित्त वस्तु के भोगने से प्रथम महाव्रत के साथ साथ तृतीय महाव्रत का भी भङ्ग होता है।

तीर्थङ्कर से प्रतिषेध किये हुए आधाकर्मादि आहारादि ग्रहण करना तीर्थङ्कर अदत्तादान है।

स्वामी द्वारा निर्दोष आहारादि दिये जाने पर भी गुरु की आज्ञा प्राप्त किये बिना उसे भोगना गुरु अदत्तादान है।

किसी भी क्षेत्र एवं वस्तु विषयक उक्त चारों प्रकार के अदत्तादान से सदा के लिये तीन करण तीन योग से निवृत्त होना अदत्तादानविरमण रूप तीसरा महाव्रत है।

मैथुन विरमण महाव्रत-देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी और तिर्यञ्च सम्बन्धी दिव्य और औदारिक काम सेवन का तीन करण तीन योग से सर्वथा प्रकार से यावज्जीवन के लिए त्याग करना मैथुन विरमण रूप चतुर्थ महाव्रत है।

(५) परिग्रह विरमण महाव्रत अल्प, बहु, अणु, स्थूल, सचित्त, आदि समस्त द्रव्यविषयक परिग्रह का तीन करण तीन योग से त्याग करना परिग्रह विरमण रूप पाँचवाँ महाव्रत है। मूर्च्छा, ममत्व होना भाव परिग्रह है और वह त्याज्य है। मूर्च्छाभाव का कारण होने से बाह्य सकल वस्तुएँ द्रव्य परिग्रह हैं और वे भी त्याज्य हैं। भाव परिग्रह मुख्य है और द्रव्य परिग्रह गौण है। इसलिए यह कहा गया है कि यदि धर्मोपकरण एवं शरीर पर साधु का ममत्व भाव, मूर्च्छा जनित राग भाव न हो तो वह उन्हें धारण करता हुआ भी अपरिग्रही ही है।

मन वचन, काया के अशुभ व्यापार को रोक कर शुभ योग में प्रवृत्ति करना गुप्ति है। अथवा-मोक्षाभिलाषी आत्मा का अपनी आत्मरक्षा के लिए अशुभयोगों को रोकना गुप्ति है। अथवा-आने वाले कर्मरूपी कचरे को रोकना गुप्ति है। गुप्ति के तीन भेद हैं-मन गुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति।

(१) मन गुप्ति—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ सम्बन्धी संकल्प-विकल्प न करना, परलोक में हित कारी, धर्म ध्यान सम्बन्धी चिन्तन करना, मध्यस्थ भाव रखना, शुभ-अशुभ योगों को रोककर योगनिरोध अवस्था में होने वाली अन्तरात्मा की अवस्था को प्राप्त करना मन गुप्ति है।

(२) वचन गुप्ति—वचन के अशुभ व्यापार अर्थात संरम्भ समारम्भ आरम्भ सम्बन्धी वचन का त्याग करना, विकथा न करना, मौन रहना आदि वचन गुप्ति है।

(३) कायगुप्ति—खड़ा होना, उठना, बैठना, सोना, सीधा चलना, इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में लगाना, संरम्भ समारंभ

आरम्भ में प्रवृत्ति करना इत्यादि काया सम्बन्धी व्यापारों में प्रवृत्ति न करना अर्थात् इन व्यापारों से निवृत्त होना कायगुप्ति है। अयतना का परिहार कर यतना पूर्वक काया से व्यापार करना एवं अशुभ व्यापारों का त्याग करना कायगुप्ति है।

कषाय—(१) जो शुद्ध स्वरूप वाली आत्मा को कलुषित करता है अर्थात् कर्म मल से मलिन करता है उसे कषाय कहते हैं।

(२) 'कष' अर्थात् कर्म या संसार उसकी 'आय' प्राप्ति या वृद्धि जिससे हो उसे कषाय (कष + आय = कषाय) कहते हैं।

(३) कषाय मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला जीव का परिणाम कषाय कहलाता है। इसके चार भेद हैं-(१) क्रोध (२) मान (३) माया (४) लोभ।

(१) क्रोध—क्रोध मोहनीय के उदय से होने वाला, करने योग्य और न करने योग्य कार्य के विवेक को हटाने वाला, प्रज्वलन रूप आत्मा के परिणाम को क्रोध कहते हैं। क्रोध के वश हुआ जीव किसी की भी बात नहीं मानता और बिना विचारे अपने और पराये अनिष्ट के लिए हृदय में और बाहर जलता रहता है।

(२) मान—मान मोहनीय कर्म के उदय से जाति कुल बल आदि में अहंकार बुद्धि रूप आत्मा के परिणाम को मान कहते हैं। मानवश जीव में बड़े के प्रति उचित नम्रभाव नहीं रहता। मानी जीव अपने आपको बड़ा समझता है, और दूसरों को तुच्छ समझता हुआ उनकी अवहेलना करता है। मान (गर्व) वश वह दूसरे के गुणों को सहन नहीं कर सकता।

(३) माया मोहनीय कर्म के उदय से मन, वचन काया की कुटिलता द्वारा परवञ्चना अर्थात दूसरे को ठगना, दूसरे के साथ

दगा करना, कपट करना आदि आत्मा के परिणाम को माया कहते हैं।

(४) लोभ मोहनीय कर्म के उदय से द्रव्यादि विषयक इच्छा मूर्च्छा, ममत्व भाव, तृष्णा अर्थात् असन्तोष रूप आत्मा के परिणाम को लोभ कहते हैं।

प्रत्येक कषाय के चार भेद हैं—

(१) अनन्तानुबन्धी (२) अप्रत्याख्यान (३) प्रत्याख्यानावरण (४) संज्वलन।

(१) अनन्तानुबन्धी—जिस कषाय के प्रभाव से जीव अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता है, उस कषाय को अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। यह कषाय सम्यक्त्व का घात करता है एवं जीवन पर्यन्त बना रहता है। इस कषाय से जीव नरक गति योग्य कर्मों का बन्ध करता है।

(२) अप्रत्याख्यान-जिस कषाय के उदय से देश विरति रूप थोड़ा सा भी प्रत्याख्यान (पच्चक्खाण) नहीं होता उसे अप्रत्याख्यान कषाय कहते हैं। इस कषाय से श्रावक धर्म की प्राप्ति नहीं होती। यह कषाय एक वर्ष तक बना रहता है और इससे तिर्यंच गति योग्य कर्मों का बन्ध होता है।

(३) प्रत्याख्यानावरण—जिस कषाय के उदय से सर्व-विरति रूप प्रत्याख्यान रुक जाता है अर्थात् साधु धर्म की प्राप्ति नहीं होती उसे प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। यह कषाय चार मास तक बना रहता है। इसके उदय से मनुष्य गति योग्य

(४) संज्वलन—जो कषाय परीषह तथा उपसर्ग के आजाने पर मुनियों को भी थोड़ा सा जलाता है अर्थात् उन पर भी थोड़ा सा असर दिखाता है उसे संज्वलन कषाय कहते हैं। यह कषाय सर्व विरति रूप साधुधर्म में बाधा नहीं पहुँचाता, किन्तु सब से ऊँचे यथाख्यात चारित्र में बाधा पहुँचाता है। यह कषाय दो सप्ताह तक बना रहता है और इससे देवगति योग्य कर्मों का बन्ध होता है।

ऊपर जो कषायों की स्थिति और नरकादि गतियों का बन्ध बतलाया गया है वह बाहुल्यता की अपेक्षा से है क्योंकि बाहुबलि मुनि को संज्वलन कषाय एक वर्ष तक रहा था और प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का अनन्तानुबन्धी कषाय अन्तर्मुहूर्त तक ही रहा था। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी कषाय के रहते हुए मिथ्यादृष्टियों का नवग्रैवेयक तक में उत्पन्न होना शास्त्र में वर्णित है।

क्रोध के चार-भेद और उनकी उपमाएँ—(१) जैसे-पर्वत के फटने पर जो दरार पड़ जाती है उसका मिलना कठिन है अर्थात् वह किसी उपाय से मिल नहीं सकती उसी प्रकार जो क्रोध किसी भी उपाय से शान्त नहीं होता, वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है।

(२) सूखे तालाब आदि में मिट्टी के फट जाने पर जो दरार हो जाती है, वह वर्षा होने पर फिर मिल जाती है, उसी प्रकार जो क्रोध विशेष परिश्रम से शान्त होता है वह अप्रत्याख्यान क्रोध है।

(३) जैसे बालू में लकीर खींचने पर कुछ समय में हवा से वह लकीर वापिस भर जाती है, उसी प्रकार जो क्रोध कुछ उपाय से शान्त होता है, वह प्रत्याख्यानावरण क्रोध है।

३८—श्रमणों का कांक्षामोहनीय
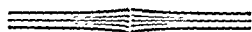
मुनियों के कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन के विषय में भ० महावीर और गणधर गौतम का संवाद यह है:—

अत्थि णं भंते ! समणा वि णिग्गंथा कंखा मोहणिज्जं कम्मं वेएंति ?

हंता, अत्थि ।

कहएणं भंते, समणा णिग्गंथा कंखामोहणिज्जं वेएंति ?

गोयमा ! तेहिं तेहिं कारणेहिं णाणंतरेहिं दंसणंतरेहिं चरित्तंतरेहिं लिंगंतरेहिं पवयणंतरेहिं पावयणंतरेहिं कप्पंतरेहिं मग्गंतरेहिं मयंतरेहिं भंगंतरेहिं णयंतरेहिं णियमंतरेहिं पमाणंतरेहिं संकिया कंखिया विइगिच्छिया भेयसमावण्णा कलुससमावण्णा एवं खलु समणा णिग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेएंति ।

—भगवती सूत्र शतक १ उद्देशक ३

अर्थ—गौतम स्वामी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से विनय पूर्वक पूछते हैं कि अहो भगवन् ! क्या श्रमण निर्ग्रन्थ भी कांक्षा मोहनीय कर्म वेदते हैं ?

"हाँ, गौतम ! वेदते हैं ।"

अहो भगवन् ! श्रमण निर्ग्रन्थ किस कारण से एवं किस प्रकार से कांक्षा मोहनीय कर्म वेदते हैं ?

"हे गौतम ! अमुक-अमुक कारणों से अर्थात् ज्ञानान्तर दर्शनान्तर, चरित्रान्तर, लिङ्गान्तर, प्रवचनान्तर, प्रावचनिकान्तर कल्पान्तर, मार्गान्तर, मतान्तर, भङ्गान्तर, नयान्तर, नियमान्तर और प्रमाणान्तर इन तेरह कारणों के द्वारा शंका वाले, कांक्षा वाले, विचिकित्सा वाले, भेद समापन्न और कलुष समापन्न होकर श्रमण निर्ग्रन्थ भी कांक्षा मोहनीय कर्म वेदते हैं ।

टिप्पणी—ज्ञानान्तर से कांक्षा मोहनीय कर्म इस प्रकार वेदा जाता है—एक ज्ञान से दूसरा ज्ञान ज्ञानान्तर कहलाता है । इसके विषय में शङ्का हो जाना कि ऐसा क्यों है ? जैसे कि-अवधिज्ञान परमाणु से लेकर अनन्त प्रदेशी रूपी स्कन्ध को जानता है, इसलिए उसके असंख्यात प्रकार हैं अर्थात् वह रूपी पदार्थों को जानता है, मनोद्रव्य भी रूपी है । रूपी होने के कारण मनो-द्रव्य अवधिज्ञान के द्वारा जाने जा सकते हैं । ऐसी हालत में दो ज्ञानों की क्या आवश्यकता है ? कौन जाने इसमें क्या तत्व है ? इस प्रकार की शङ्का हो सकती है ।

इसका समाधान यह है कि-यद्यपि मनोगत पदार्थ रूपी हैं और अवधिज्ञान द्वारा जाने जा सकते हैं तथापि मनः पर्याय ज्ञान और अवधिज्ञान एक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि दोनों का स्वरूप भिन्न है । मनः पर्यायज्ञान मन के भीतर आने वाले पदार्थ के विचार को ही जानता है, अन्य किसी पदार्थ को नहीं जानता । अवधिज्ञानी सामान्य देखकर विशेष देखता है अर्थात् अवधिज्ञान

अवधि दर्शन पूर्वक होता है किन्तु मनःपर्याय ज्ञान दर्शन पूर्वक नहीं होता है अवधिज्ञान और मनःपर्याय ज्ञान में इसी प्रकार और भी बहुत से अन्तर हैं, अवधिज्ञान वाले को क्रोध भी आ जाता है, संसार के भोग भोगते हुए भी इन्द्रादिक अवधिज्ञानी होते हैं, लेकिन मनः पर्याय ज्ञानी शुद्ध और शीतल होते हैं।

इस प्रकार विषय, क्षेत्र, स्वामी आदि अनेक अपेक्षाओं से दोनों ज्ञानों में अन्तर है।

दर्शनान्तर—सामान्य ज्ञान को दर्शन कहते हैं। चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन अलग अलग क्यों कहे गये ?

इसका उत्तर यह है कि अचक्षुदर्शन सामान्य रूप से देखता है और चक्षु दर्शन विशेष रूप से देखता है।

अथवा—जैसे कि समकित के विषय में शङ्का उत्पन्न होती है-उपशम समकित और क्षायोपशमिक समकित अलग अलग क्यों कही गई है ?

इसका उत्तर यह है कि-क्षायोपशमिक समकित में विपाक का उपशम है और मिथ्यात्व के प्रदेशों का उदय है। उपशम समकित में मिथ्यात्व के प्रदेशों का उदय नहीं है।

चारित्रान्तर—चारित्र के विषय में शङ्का उत्पन्न होती है, जैसे-सामायिक चारित्र में सर्व सावद्य का त्याग हो गया फिर छेदोपस्थापनीय चारित्र देने की क्या आवश्यकता है ?

प्रथम तीर्थङ्कर के साधु ऋजुजड़ (ऊपर से जड़ यानी मन्द बुद्धि होते हैं परन्तु भीतर से उनका हृदय सरल होता है) होते हैं और अन्तिम तीर्थङ्कर के साधु वक्रजड़ (ऊपर से जड़ यानी मन्द बुद्धि वाले और भीतर हृदय में छल कपट वाले) होते हैं। इस लिए

प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के साधुओं को समझाने के लिए छेदोपस्थापनीय चारित्र दिया जाता है। बीच के बाईस तीर्थङ्करों के साधु ऋजुप्राज्ञ (प्राज्ञ यानी ऊपर से तीक्ष्ण बुद्धि वाले और भीतर से सरल हृदय वाले) होते हैं इसलिए उनके लिए सामायिक चारित्र ही कहा गया है।

लिङ्गान्तर—प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के साधु सिर्फ सफेद वस्त्र ही रखते हैं और बीच के बाईस तीर्थङ्करों के साधु पाँच ही वर्ण के वस्त्र रखते हैं। यह भेद क्यों ? उत्तर यह है:—

प्रथम तीर्थङ्कर के साधु ऋजुजड़ होते हैं और अन्तिम तीर्थङ्कर के साधु वक्रजड़ होते हैं। इसलिए उनके लिए सिर्फ सफेद ही वस्त्र रखने की आज्ञा है। बीच के बाईस तीर्थङ्करों के साधु ऋजुप्राज्ञ होते हैं, इस लिए वे पाँचों ही वर्ण के वस्त्र रख सकते हैं।

प्रवचनान्तर—एक तीर्थङ्कर के प्रवचन से दूसरे तीर्थङ्कर के प्रवचन में अन्तर पड़ने से शंका उत्पन्न होती है, जैसे कि-प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के समय में पाँच महाव्रत और छठा रात्रि-भोजन विरमण व्रत बतलाया गया है और बीच के बाईस तीर्थङ्करों के समय में चार महाव्रत और पाँचवाँ रात्रिभोजन विरमण व्रत बतलाया गया है ऐसा क्यों ?

इसका उत्तर—जो उत्तर चारित्रान्तर के विषय में दिया है, वही उत्तर यहाँ पर भी समझना चाहिये। चौथे महाव्रत का समावेश पाँचवें महाव्रत में किया गया है। क्योंकि स्त्री परिग्रह रूप ही है। इस कारण से बीच के बाईस तीर्थङ्करों के समय चार महाव्रत कहे गये हैं। अलग अलग विचार करने से पाँच महाव्रत हो जाते हैं।

(१६) वे गेंडे के सींग की तरह एकजात (एकाकी) होते हैं अर्थात जिस प्रकार गेंडे के एक ही सींग होता है, उसी प्रकार साधु राग द्वेष रहित होने से एकाकी (अकेले) होते हैं।

(१७) वे भारण्ड पक्षी की तरह अप्रमत्त होते हैं अर्थात् जैसे भारण्ड पक्षी सदा अत्यन्त सावधान रह कर निर्वाह करता है, तनिक प्रमाद भी उसके विनाश के लिए होता है, उसी प्रकार साधु भी हर समय संयमानुष्ठान में सावधान रहता है, कभी प्रमाद का सेवन नहीं करता है।

(१८) वे कुञ्जर (हाथी) के समान शौण्डीर (शूरवीर) होते हैं अर्थात् जैसे हाथी युद्ध में शौर्य दिखाता है, किन्तु युद्ध से पीछा नहीं भागता है, उसी प्रकार मुनि भी अनुकूल और प्रतिकूल परीषह उपसर्ग रूप सेना के विरुद्ध अपनी आत्म शक्ति का प्रयोग करते हैं, वे परीषह उपसर्गों से घबराकर संयम से पीछे नहीं हटते, अपितु परीषह उपसर्ग रूप शत्रु सेना पर विजय प्राप्त करते हैं।

(१६) वे वृषभ (धोरी बैल) के समान बलशाली होते हैं अर्थात् जैसे धोरी बैल उठाये हुए भार को पार पहुँचाता है, उसी प्रकार साधु लिये हुए व्रत नियमों का तथा पाँच महाव्रत रूपी संयम का जीवन पर्यन्त उत्साह पूर्वक पालन करते हैं। इस प्रकार उठाये हुए पाँच महाव्रत रूपी मेरु के भार को पार पहुँचाते हैं, किन्तु बीच में संयम का त्याग नहीं करते।

(२०) वे सिंह के समान दुर्धर्ष होते हैं अर्थात् जैसे सिंह महाशक्ति शाली होता है, जंगली जानवर उसे हरा नहीं सकते, उसी प्रकार साधु आध्यात्मिक शक्तियों के भण्डार होते हैं, अतएव वे परीषह उपसर्गों से पराभूत नहीं होते।

(२१) वे वसुंधरा (पृथ्वी) के समान सर्वसह होते हैं अर्थात् जैसे पृथ्वी सब कुछ सहती है, उसी प्रकार मुनि भी अनुकूल और प्रतिकूल सब परीषह उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करते हैं।

(२२) वे सुहुत हुताशन (घी से सम्यक् सिंची हुई अग्नि) के समान तेज से दीप्त होते हैं अर्थात जैसे घी से सिंची हुई अग्नि तेज से देदीप्यमान होती है, उसी प्रकार साधु संयम और तप के तेज से दीप्त रहता है।

यहाँ औपपातिक (उववाई) सूत्र में मुनि के लिए उपयुक्त बाईस उपमाएँ दी गई हैं, किन्तु प्रश्न व्याकरण सूत्र के पाँचवें द्वार में मुनि के लिए इकतीस उपमाएँ दी गई हैं। वहाँ का मूल पाठ इस प्रकार है—

"णिरुवलेवे सुविमलवरकंसभायणं व मुक्कतोए, संखे विव णिरंजणे विगयरागदोस मोहे, कुम्मो विव इंदिएसु गुत्ते, जच्चकंचणगं व जायरूवे, पोक्खरपत्तं व णिरुवलेवे चंदो विव सोमभावयाए, सूरोव्व दित्ततेए, अचले जह मंदरे गिरिवरे, अक्खोभे सागरोव्व थिमिए, पुढवीव्व सव्वफास सहे, तवसा चिय भासरासि छण्णिव्व जायतेए, जलियहुयासणे विव तेयसा जलंते गोसीस चंदणं विव सीयले सुगंधे य, हरयो विव समियभावे उग्घोसिय सुणिम्मलं व्व, आयंसमंडलतलं व्व, पागडभावेण सुद्धभावे, सोंडीरे कुंजरो व्व, उसभे व्व

(ठाणांग सूत्र ठाणा ४ उद्देशक २ की टीका)

उपाश्रय में बैठे हुए साधुओं को राज कथा करते हुए सुन कर राज पुरुष के मन में ऐसे विचार आ सकते हैं कि—वास्तव में ये साधु नहीं हैं क्योंकि सच्चे साधुओं को राज कथा से क्या प्रयोजन है—? मालूम होता है कि ये गुप्तचर या चोर हैं। राजा के अमुक अश्व का हरण हो गया था, राजा के स्वजन को किसी ने मार दिया था। उन अपराधियों का आज तक पता नहीं लगा था। क्या ये वे ही तो अपराधी नहीं हैं? अथवा ये उक्त कार्य करने के अभिलाषी तो नहीं हैं? राजकथा सुनकर किसी राजकुल से दीक्षित साधु को भुक्त भोगों का स्मरण हो सकता है। अथवा

दूसरा साधु राजऋद्धि की प्राप्ति के लिए नियाणा कर सकता है।

इस प्रकार राजकथा के ये तथा और भी अनेक दोष हैं।

(निशीथ चूर्णि उद्देशक १)

(च) यहाँ 'विवेक' का अर्थ त्याग है अर्थात् अशुद्ध आहारादि का त्याग करना विवेक कहलाता है।

(छ) निस्सङ्ग अर्थात ममत्व रहित होकर शरीर और उपाधि आदि के त्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं। इसके सात भेद हैं—

१—शरीर व्युत्सर्ग-ममत्व रहित होकर शरीर का त्याग करना।

२—गणव्युत्सर्ग-अपने सगे सम्बन्धी या शिष्य आदि का त्याग करना।

३—उपधि व्युत्सर्ग-भण्डोपकरण आदि का त्याग करना।

४—भक्तपान व्युत्सर्ग-आहार पानी का त्याग करना।

५—कषाय व्युत्सर्ग-क्रोध, मान, माया, लोभ को छोड़ना।

६—संसार व्युत्सर्ग-नरक आदि के आयुष्य के बन्ध के कारण मिथ्यात्व आदि का त्याग करना।

७—कर्मव्युत्सर्ग-कर्म बन्ध के कारणों का त्याग करना।

इन सात व्युत्सर्गों में से पहले के चार द्रव्य व्युत्सर्ग हैं और अन्तिम तीन भाव व्युत्सर्ग हैं।

(ज) पिछली रात्रि के समय निद्रा से जागृत होकर धर्म विषयक चिन्तन करना धर्म जागरिका है यथा—

किं कयं किं वा सेसं, किं करणिज्जं तवं च न करेमि
पुव्वावरत्तकाले, जागरओ भाव पडिलेहा ॥१॥

अर्थ—पिछली रात्रि के समय जागृत होकर इस प्रकार विचार करना कि-मैंने अपने अब तक के जीवन में क्या-क्या धर्म कार्य किये हैं। और कौन-कौन से धर्म कार्य करने मुझे बाकी हैं जिनको मैं प्रमादवश नहीं कर रहा हूँ? मुझ में शक्ति होते हुए भी कौन सा शक्य तप मैं नहीं कर रहा हूँ? इस प्रकार विचार करना धर्म जागरिका है।

अथवा

को मम कालो? किमेयस्स उचियं? असारा विसया।
णियमगामिणो विरसावसाणा भीसणो मच्चू ॥२॥

अर्थ—इस समय मेरा कौन सा समय है अर्थात मेरी कौन सी अवस्था बीत रही है? इस अवस्था के उचित कौन सा धर्म कार्य करना है? पाँच इन्द्रियों के ये विषय भोग (काम भोग) निश्चित रूप से नष्ट होने वाले हैं। अर्थात् यदि मैं इन कामभोगों से फँसा रहूंगा और इनको नहीं छोड़ूँगा तो भी वृद्धावस्था आने पर एवं इन्द्रियों के शिथिल पड़ जाने पर ये काम भोग मुझे छोड़ देंगे। जब यह बात है तो मैं ही इन्हें क्यों न छोड़ दूं? इनका अन्तिम परिणाम भी बड़ा नीरस एवं दुःखदायी है। मृत्यु बड़ी भयङ्कर है। अतः मुझ में शक्ति रहते हुए ही मुझे धर्म कार्य कर लेने चाहिये। धर्म कार्यों में मुझे किञ्चन्मात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिये।"

इस प्रकार विचार करना धर्म-जागरिका कहलाती है।

(क) जो पदार्थ निर्जीव अर्थात् अचित्त हो गया है उसे प्रासुक कहते हैं जैसे कि—

'प्रगताः असवः उच्छ्वासादयः प्राणाः यस्मात् स प्रासुको-निर्जीवः ॥'

जिसमें से उच्छ्वासादि प्राण चले गये हैं, उसको प्रासुक कहते हैं।

(ञ) उद्गम के सोलह दोष, उत्पादना के सोलह दोष और एषणा के दस दोष, इन बयालीस दोषों से रहित आहारादि एषणीय (कल्पनीय) होता है। ऐसा निर्दोष आहारादि ही साधु को ग्रहण करने योग्य है।

(ट) 'उञ्छ्यते अल्पाल्पतया गृह्यते इति उञ्छः' अर्थात् अनेक घरों से जो थोड़ा-थोड़ा आहारादि ग्रहण किया जाय उसे 'उञ्छ' कहते हैं।

(ठ) शास्त्र निषिद्ध कुल के अतिरिक्त किसी भी घर को न छोड़ते हुए ऊँच नीच मध्यम कुलों में क्रमशः भिक्षा वृत्ति से गोचरी करना 'सामुदानिक भिक्षा' है।

४२—मुक्ति के कारण

अनगार कितने और कौन से कारणों से संसार का अन्त करके मुक्ति प्राप्त करते हैं? यह बात इन शब्दों में स्पष्ट की गई है:—

दोहिं ठाणेहिं अणगारे संपण्णे अणाइयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं विइवएज्जा तंजहा-विज्जाए चेव चरणेण चेव।

—ठाणांग सूत्र ठाणा २

अर्थ—विद्या अर्थात सम्यगज्ञान से और चारित्र से इन दो स्थानों से (गुणों से) सम्पन्न (युक्त) अनगार-साधु अनादि और अनन्त दीर्घ काल वाले एवं दीर्घ मार्ग वाले चतुरन्त अर्थात नरकादि गति रूप चार विभाग वाले संसार रूपी कान्तार (अटवी) को पार कर जाता है। (मोक्ष प्राप्त कर लेता है।)

प्रश्न—यहाँ मूल पाठ में आये हुए विज्जा और चरण शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर—यहाँ 'विद्या' का अर्थ है 'ज्ञान' और 'चरण' का अर्थ है 'चारित्र'।

"सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षमार्गः"

अर्थात सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यक् चारित्र यह सम्मिलित रूप से मोक्ष का मार्ग है। सम्यग् दर्शन का सम्यग्

ज्ञान में अन्तर्भाव कर देने से सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र यह मोक्ष का मार्ग है, ऐसा कहा जाता है। इसीलिए तो कहा है-

"ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः"

ज्ञान और क्रिया से अर्थात् सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र से मोक्ष होता है।

प्रश्न—ज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर—सामान्य या विशेष रूप से वस्तु को जानना उपयोग है। उपयोग के दो भेद हैं-ज्ञान (साकारोपयोग) और दर्शन (निराकारोपयोग)।

जो उपयोग पदार्थों के विशेष धर्मों का जाति गुण क्रिया आदि का ग्राहक है वह ज्ञान कहा जाता है। ज्ञान को साकारोपयोग कहते हैं।

जो उपयोग पदार्थों के सामान्य उपयोग का अर्थात् सत्ता का ग्राहक है उसे दर्शन कहते हैं। दर्शन को निराकारोपयोग कहते हैं।

प्रश्न—चारित्र किसे कहते हैं?

उत्तर—चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय से, उपशम से अथवा क्षयोपशम से उत्पन्न हुए विरति परिणाम को तथा संयमानुष्ठान को चारित्र कहते हैं। अथवा-'चयरित्तकरं चारित्तं होइ' अर्थात् जो आठ कर्मों के चय (समूह) को रिक्त (नष्ट) करे, उसे चारित्र कहते हैं।

जिसका अन्त नजदीक न हो उसे अनवदग्र (अनन्त) कहते हैं।

जिसका मार्ग लम्बा हो उसे 'दीहमद्ध' कहते हैं अथवा 'दीर्घ काल वाले' को दीहमद्ध कहते हैं।

देवगति, मनुष्यगति, तिर्यञ्च गति और नरक गति, इस प्रकार से जिसमें चार विभाग हैं वह संसार 'चाउरन्त (चातुरन्तक) कहलाता है।

४४-सिद्धि किसे मिलती है ?

संवृत अनगार की सिद्धि का कारण बताते हुए सूत्रकार कहते हैं:—

संवुडे णं भंते अणगारे सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिणिव्वाइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ?

हंता, गोयमा ! सिज्झइ जाव अंतं करेइ।

से केणट्ठेणं भंते !

गोयमा ! संवुडे अणगारे आउयवज्जाओ सत्तकम्म पयडीओ घणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ, दीहकालठिइयाओ हस्स-कालठिइयाओ पकरेइ, तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ, बहुप्पएसगाओ अप्पपएसगाओ पकरेइ। आउयं च णं कम्मं णो बंधइ। असायावेयणिज्जं च कम्मं णो भुज्जो भुज्जो उवचिणइ। अणाइयं च अणवदग्गं दीहमद्धं, चाउरंत-संसार-कंतारं वीईवयइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-संवुडे अणगारे सिज्झइ जाव अंतं करेइ॥

—भगवती शतक १।१

अर्थ—गौतम स्वामी विनयपूर्वक श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से पूछते हैं कि-अहो भगवन् ! क्या संवृत अनगार सिद्ध होता है ? बुद्ध होता है ? मुक्त होता है ? परिनिर्वाण को प्राप्त करता है ? सब दुःखों का अन्त करता है ?

हाँ, गौतम ! सिद्ध होता है यावत् सब दुःखों का अन्त करता है।

अहो भगवन ! किस कारण से संवृत अनगार सिद्ध होता है ? यावत् सर्व दुःखों का अन्त करता है ?

हे गौतम ! संवृत अनगार आयु कर्म को छोड़कर शेष सात गाढ़ी बाँधी हुई कर्म प्रकृतियों को शिथिल बन्ध वाली करता है दीर्घ कालीन स्थिति वाली प्रकृतियों को अल्पकालीन स्थिति वाली बनाता है, तीव्र फल देने वाली प्रकृतियों को मन्द फल देने वाली बनाता है, बहुत प्रदेश वाली प्रकृतियों को अल्प प्रदेश वाली बनाता है। आयुकर्म का बन्ध नहीं करता है, तथा असातावेदनीय कर्म का बारम्बार उपचय नहीं करता है। इसलिए अनादि, अनन्त, लम्बे मार्ग वाले, चातुरन्तक (चार प्रकार की गति वाले) संसार रूपी अरण्य (वन) का उल्लंघन कर जाता है। इसलिए हे गौतम ! संवृत अनगार सिद्ध होता है यावत् सब दुःखों का अन्त कर देता है।

टिप्पणी—आश्रवद्वार का निरोध करके संवर की साधना करने वाला मुनि अर्थात् प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह इनका सर्वथा प्रकार से त्याग करके पाँच महाव्रतों को निर्दोष रूप से पालन करने वाला मुनि 'संवृत' कहलाता है।

४५—अन्तकर कौन ?
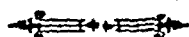
किसके क्षय होने पर श्रमण संसार का अन्त कर सकते हैं ? यह बताते हुए कहा गया है:—

से णूणं भंते ! कंखपदोसे णं खीणे समणे णिग्गंथे अंतकरे भवइ ! अंतिमसरीरिए वा ? बहुमोहे वि य णं पुव्विं विहरित्ता, अह पच्छा संवुडे कालं करेइ, तओ पच्छा सिज्झइ वुज्झइ मुच्चइ परिणिव्वाइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ?

हंता, गोयमा ! कंखपदोसे खीणे जाव अंतं करेइ ।

—भगवती श० १ उ० ९

अर्थ—गौतम स्वामी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से पूछते हैं कि—अहो भगवन् ? क्या कांक्षाप्रदोष क्षीण होने पर श्रमण निर्ग्रन्थ अन्तकर और अन्तिम शरीर वाला होता है ? अथवा पहले की अवस्था में बहुत मोह वाला होकर विहार करता है और फिर संवर वाला होकर काल करता है तो क्या सिद्ध-बुद्ध, मुक्त होकर यावत् सब दुःखों का अन्त करता है ?

हाँ, गौतम ! कांक्षाप्रदोष नष्ट हो जाने पर यावत् सब दुःखों का अन्त करता है ।

टिप्पणी—कांक्षा प्रदोष का अर्थ है दूसरे मत का आग्रह करना। जैसे कि वस्तु अनेकान्त रूप है, फिर भी उसे एकान्त रूप बताकर हठ करना मताग्रह कहलाता है। यही कांक्षा-प्रदोष है।

यहाँ गौतम स्वामी के इस प्रश्न का आशय यह है कि-क्या कांक्षा प्रदोष नष्ट होने पर श्रमण निर्ग्रन्थ सब दुःखों का नाश करके मोक्ष चला जाता है अथवा जो चरम शरीरी है (उसी भव में मोक्ष जाने वाले हैं) वे कांक्षा प्रदोष में पड़ गये हों और इसी मोह में विचरण कर रहे हों। तथा इसमें पड़ जाने से अनेक पाप किये हों तो भी क्या अन्त में कांक्षा प्रदोष नष्ट करके मोक्ष जा सकते हैं? कांक्षाप्रदोष मोह के कारण कैसे भी पाप किये हों किन्तु अन्त में उसे नष्ट करके क्या उसी भव में मोक्ष जा सकते है? चरम शरीरी न हो तो बात दूसरी है किन्तु क्या चरम शरीरी कांक्षा प्रदोष मोह नष्ट करके मोक्ष जा सकता है?

भगवान् ने उत्तर दिया कि, हाँ, गौतम! जा सकता है।

इसका तात्पर्य यह है कि चरम शरीरी जीव वर्तमान भव से ही मुक्ति प्राप्त करेगा लेकिन कभी कभी वह भी पहले मोह में आकर मिथ्यात्व में पड़ जाता है किन्तु अन्त में मोह को त्याग कर मोक्ष को प्राप्त करता है। जैसे भृगुपुरोहित और अर्जुनमाली आदि चरम शरीरी जीव होने पर भी मोह में पड़ कर मिथ्यात्वी बन गये थे और अन्त में मोह का सर्वथा नाश करके मोक्ष में पधार गये।

४६—सुगति

कैसे श्रमणों के लिए सुगति दुर्लभ है और कैसों के लिए सुलभ ? यह बात दशवैकालिक के शब्दों में बताई गई है:—

सुहसायगस्स समणस्स,
सायाउलगस्स णिगामसाइस्स ।
उच्छोलणा पहोयस्स,
दुल्लहा सुगई तारिसगस्स ॥

अर्थ:—सुख में आसक्त रहने वाले; सुख के लिए व्याकुल रहने वाले, निकामशायी (अत्यन्त सोने वाले) शरीर की विभूषा के लिए हाथ पर आदि धोने वाले साधु को सुगति मिलना दुर्लभ है ॥

तवोगुण पहाणस्स,
उज्जुमइ खंतिसंजमरयस्स ।
परीसहे जिणंतस्स,
सुलहा सुगई तारिसगस्स ॥

अर्थ:—तप रूपी गुण से प्रधान, सरल बुद्धि वाले क्षमा और संयम में तल्लीन, परीषहों को जीतने वाले साधक को सुगति-मोक्ष मिलना सुलभ है ।

तप संयम में अनुरक्त, सरल प्रकृति वाले, बाईस परीषहों को जीतने वाले साधक को सुगति-मोक्ष मिलना सुलभ है।

तप संयम में अनुरक्त, सरल प्रकृति वाले बाईस परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करने वाले साधक के लिए सुगति (मोक्ष) प्राप्त होना सुलभ (सरल) है॥

कैसे साधु को मोक्ष नहीं मिलता? यह इन शब्दों में प्रकट किया गया है:—

जे यावि चंडे मइ-इड्ढिगारवे,
पिसुणे नरे साहसहीणपेसणे।
अदिट्ठधम्मेऽविणए अकोविए,
असंविभागी न हु तस्स मुक्खो॥

—दशवैकालिक अ० ९

अर्थ—जो पुरुष क्रोधी, बुद्धि और ऋद्धि का अभिमान करने वाला, चुगलखोर, साहसी (बिना सोचे विचारे कार्य करने वाला; गुरु की आज्ञा न मानने वाला, धर्माचरण से रहित, अविनीत और असंविभागी (लाये हुए आहारादि को अपने संभोगी साधुओं में न बाँट कर खाने वाला) होता है, उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

४७–धर्मोपदेश किसलिए ?

३६—साधु के धर्मोपदेश का उद्देश्य क्या है ? यह बताते हुए भगवान् फरमाते हैं:—

से भिक्खू धम्मं किट्टमाणे णो अण्णस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो वत्थस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा णो लेणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो सयणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो अण्णेसिं विरूवरूवाणं कामभोगाणं हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा णण्णत्थ कम्मणिज्जरट्ठाए धम्ममाइक्खेज्जा ॥

—सूयगडांग अध्य० १

अर्थ—धर्मोपदेश करता हुआ साधु अन्न, पानी, वस्त्र, पात्र, लयन (मकान) शय्या संस्तारक तथा दूसरे अनेक प्रकार के कामभोगों की प्राप्ति के लिए धर्म का कथन न करे किन्तु वह प्रसन्न चित्त होकर धर्म का उपदेश करे और कर्मों की निर्जरा के सिवाय अन्य किसी प्रयोजन के लिए धर्मोपदेश न करे।

चरित्रग्रन्थः—

२७ अमृत चरित्रोद्यान		०-३७
२८ मदनश्रेष्ठीचरित्र		१-५०
*२९ शान्तिनाथचरित्र		१-०-०
*३० प्रद्युम्नकुमार चरित्र		१-०-०
३१ वीरसेन कुसुम श्री चरित्र		१-०-०
३२ जिनदास सुगुणी	,,	०-५०
३३ धन्नाशालिभद्र	,,	०-१६
३४ भीमसेन हरिसेन	,,	०-३७
३५ हरिवंश	,,	०-१२
*३६ वीरांगदसुमित्र	,,	०-५०
*३७ मृगांकलेखा	,,	०-६२

...णी दया ॥

अमोल प्रकाशन

कथाग्रन्थः—

१ ज्ञानाराधना	०-१२
२ प्रद्युम्नकुमार	१-००
३ धर्मवीर जिनदास	१-१२
४ अभयकुमार	०-३७
५ जिनसुन्दरी	०-२५
६ महासती चेलना	०-३७
७ अक्षयतृतीया	०-२५
८ धन्ना शालिभद्र	१-२५
९-२४ महिलाजीवनमणिमाला (१६ भाग)	५-००
२५ मल्लीजिन (पू. मू.)	१-००
२६ महासती मदनरेखा ,,	०-३७
२७ ,, श्रीमती ,,	०-४४
२८ ,, रुक्मिणी ,,	(प्रेस में)

* इस चिन्ह वाली पुस्तकें अप्राप्य हैं।

...नालय

...दिया

अमोल प्रकाशन

चरित्रग्रन्थः—

२७ अमृत चरित्रोद्यान		०-३७
२८ मदनश्रेष्ठीचरित्र		१-५०
*२९ शान्तिनाथचरित्र		१-०-०
*३० प्रद्युम्नकुमार चरित्र		१-०-०
३१ वीरसेन कुसुम श्री चरित्र		१-०-०
३२ जिनदास सुगुणो	,,	०-५०
३३ धन्नाशालिभद्र	,,	०-१९
३४ भीमसेन हरिसेन	,,	०'३७
३५ हरिवंश	,,	०-१२
*३६ वीरांगदसुमित्र	,,	०-५०
*३७ मृगांकलेखा	,,	०-६२

णी दया ॥

अमोल प्रकाशन

कथाग्रन्थः—

१	ज्ञानाराधना	०-१२
२	प्रद्युम्नकुमार	१-००
३	धर्मवीर जिनदास	१-१२
४	अभयकुमार	०-३७
५	जिनसुन्दरी	०-२५
६	महासती चेलना	०-३७
७	अक्षयतृतीया	०-२५
८	धन्ना शालिभद्र	१-२५
९-२४	महिलाजीवनमणिमाला (१६ भाग)	५-००
२५	मल्लीजिन (पू. मू.)	१-००
२६	महासती मदनरेखा ,,	०-३७
२७	,, श्रीमती ,,	०-४४
२८	,, रुक्मिणी ,,	(प्रेस में)

* इस चिन्ह वाली पुस्तकें अप्राप्य हैं।

नालय

ड़िया

चरित्रग्रन्थः—

२७ अमृत चरित्रोद्यान		०-३७
२८ मदनश्रेष्ठीचरित्र		१-५०
*२९ शान्तिनाथचरित्र		१-०-०
*३० प्रद्युम्नकुमार चरित्र		१-०-०
३१ वीरसेन कुसुम श्री चरित्र		१-०-०
३२ जिनदास सुगुणो	,,	०-५०
३३ धन्नाशालिभद्र	,,	०-१६
३४ भीमसेन हरिसेन	,,	०'३७
३५ हरिवंश	,,	०-१२
*३६ वीरांगदसुमित्र	,,	०-५०
*३७ मृगांकलेखा	,,	०-६२